आधुनिक भारत के निर्माताओं में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र (१८५०-८५) का जो स्थान है, वह किसी से छिपा नहीं है। वे हिंदी की तो निधि हैं ही, परंतु हिंदी के द्वारा उन्होंने एक विशाल जन-समुदाय को अनुप्राणित किया, और वह विशाल जनसमुदाय भारत-राष्ट्र का हृदय था—मध्यदेश का विशाल जन-सागर था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र, राजा राममोहन राय और स्वामी दयानंद सरस्वती आधुनिक भारत के तीन महान जन्मदाता थे।

'भारतेन्दु हरिश्चंद्र : एक अध्ययन' में इन्हीं युग-पुरुष की अनेकानेक प्रवृत्तियों की संक्षिप्त, परंतु मौलिक, समीक्षा है। गद्य-पद्य, काव्य, निबंध, कथा, नाटक, समाचारपत्र और मासिकपत्र, प्रवचन और व्याख्यान इन अनेक माध्यमों से भारतेन्दु ने एक नई विचारधारा, एक नये जीवनादर्शों की ओर इंगित किया है। भारतेन्दु-युग के कवि-निबंधकार इन्हीं कृतियों के बल पर आगे बढ़े। भारतेन्दु जीवित रहते तो वे एक महान क्रांति के जनक बनते। वे नहीं रहे, परंतु उनकी प्रतिभा ने ही बीसवीं शताब्दी के लेखकों का पथ प्रशस्त किया।

आधुनिक भारत के निर्माताओं में, [illegible]

८५१

आलोचना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : एक अध्ययन

रामरतन भटनागर

किताब महल

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९४७

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—रामभरोस मालवीय, अभ्युदय प्रेस, इलाहाबाद

भूमिका

भारतेन्दु पर कई परिचयात्मक पुस्तकें और कई निबंध हमारे सामने हैं। इनमें सर्वश्री राधाकृष्णदास, शिवपूजन सहाय, ब्रजरत्नदास और डा० रामविलास शर्मा की रचनाएँ प्रमुख हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने भी उनकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है, जो पठनीय है। परन्तु अभी तक केवल आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं हुआ है।

इस पुस्तक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की सारी रचनाओं और प्रवृत्तियों पर एक समीक्षात्मक विहंगम दृष्टि डाली गई है। भारतेन्दु का साहित्य बहुत अधिक है। अभी तक सब सुसंपादित रूप में प्राप्य भी नहीं हैं। उनके संस्थापित एवं संचालित 'कवि-वचनसुधा', 'हरिश्चंद्रचंद्रिका' आदि पत्रों की फाइलें भी पूरी नहीं हैं। फिर इस सब सामग्री तक पहुँचना और उसका सम्यक् अध्ययन करना दो-चार वर्षों का काम है। अतः लेखक ने अभी इस 'भूमिका'-मात्र से संतोष कर लिया। संभव है, उसे अवकाश मिले, और परिस्थितियाँ उसका साथ दें, तो वह निर्णयात्मक अध्ययन भी उपस्थित करे।

जैसी है, पुस्तक आपके सामने है। 'परिशिष्ट' में भारतेन्दु की कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री नमूने के लिए जोड़ दी गई है।

वसन्तपञ्चमी
१९४७

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

परिशिष्ट

१
जीवनी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म पूर्वी और पश्चमीय सभ्यताओं के संघात काल के आरम्भ में हुआ और दो दशाब्द तक उनके जीवन, उनके साहित्य और उनके द्वारा किये हुए अनेक समाजोपकारी कार्यों में हम उन्हें समन्वय-पथ पर बढ़ते हुए पाते हैं। भारतेन्दु के बचपन में ही—जब वे सात वर्ष के रहे होंगे, सिपाही-विद्रोह की घटना घटित हुई और उनकी मृत्यु के वर्ष तक राष्ट्रीय चेतना का इतना विकास हो गया था कि इसी वर्ष कांग्रेस का जन्म हुआ। इन दो महत्त्वपूर्ण राजनैतिक घटनाओं के बीच एक शताब्दी का चतुर्थांश भाग पड़ता है। हमारे जातीय और राष्ट्रीय इतिहास के विकास की दृष्टि से इस काल का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसी समय वे प्रवृत्तियाँ अंकुरित हुईं जो बाद में पल्लवित हुईं और आज फलित हो रही हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आदर्शों और उनके प्रोत्साहन से प्रभावित होकर ये प्रवृत्तियाँ दृढ़ एवं विकासित हुईं। उनके जीवन और साहित्य को केन्द्र बना कर ही हम इस युग का सफल चित्र खींच सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि उनके व्यक्तित्व, साहित्य और कार्यों की समीक्षा की जाय, जिससे हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक गति-विधि को परखा जा सके।

१७५७ की प्लासी की लड़ाई जहाँ भारत की राजनीति के लिए एक निश्चयात्मक तिथि थी वहाँ बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्वजों के लिए भी, जिनका इस लड़ाई से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध

रहा है। भारतेन्दु के आदि पूर्व-पुरुष सेठ बालकृष्ण के पौत्र तथा गिरधारीलाल के पुत्र सेठ अमीनचन्द (अमीरचन्द) दिल्ली से कलकत्ता आ बसे थे। इन्होंने अंगरेज व्यापारियों से वाणिज्य-व्यवसाय स्थापित कर लिया। इनका परिवार राजमहल और मुर्शिदाबाद में रहता था और नवाब तथा वणिकों में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। पहले कुछ समय कम्पनी के व्यापारियों ने इन्हीं की सहायता से अपना कारोबार बढ़ाया, परन्तु फिर स्वतंत्र रूप से काम करने लगे। तब यह भी अपने धन से व्यापार करने लगे। परन्तु मुर्शिदाबाद में सिराजुद्दौला के यहाँ मान होने के कारण यह कम्पनी और नवाब के बीच में मध्यस्थ का भी काम करते रहे। नवाब के प्रति किए गए षड्यन्त्रों में अमीनचन्द का एक प्रमुख हाथ रहा है। परन्तु वह युग राजद्रोहियों और देश-द्रोहियों से भरा था और अमीनचन्द अन्य षड्यन्त्रकारियों से किसी तरह बुरे नहीं थे। इस देशद्रोह के फलस्वरूप उन्हें तीस लाख रुपया मिलना तय हुआ था, परन्तु वाटसन और क्लाइव ने जब प्लासी युद्ध विजय कर लिया और मीरजाफर से खजाना खाली कराया तो उन्हें लालच आ गया। उन्होंने जाली सन्धि-पत्र पर अमीनचन्द के दस्तखत कराये थे और इससे वे साफ मुकर गये। जब अमीनचन्द से कहा गया कि यह सन्धिपत्र जाली था, उन्हें कुछ न मिलेगा, तब वे बेहोश हो गये और शीघ्र ही पागल होकर डेढ़ वर्ष में चल पड़े।

पिता की दुःखद मृत्यु और लाञ्छना से दुःखी होकर अमीन-चन्द के पुत्र फतहचन्द १७५९ ई० में काशी आ बसे। काशी के प्रसिद्ध सेठ गोकुलचन्द की कन्या से उनका विवाह हुआ। सन् १७७५ ई० में बनारस राज अंगरेजी अमलदारी में मिला लिया गया और सन् १७८१ ई० में राजा चेतसिंह के बलवे के बाद बनारस नगर पर भी अंगरेजों का अधिकार हो गया। बाबू

फतहचंद्र ने अंगरेज अफसरों की शान्ति-स्थापन व्यवस्था में अनेक प्रकार की सहायता दी। उनके बड़े भाई राय रत्नचन्द्र भी मुर्शिदाबाद छोड़कर काशी के रामकटोरा बाग में बस गये थे। इन्होंने कोई पुत्र न छोड़ा, अतः १८२० ई० में इनकी मृत्यु के बाद इनके वसीयतनामा के अनुसार इनकी सम्पत्ति के आधे भाग के स्वामी फतहचन्द्र के पुत्र हर्षचन्द्र (१७९८-१८४४) हुए। इस प्रकार यह अग्रवाल परिवार काशी का सर्वप्रतिष्ठित परिवार बन गया। फतहचन्द्र ने लेन-देन के व्यापार से सम्पत्ति को बहुत बढ़ाया था। हर्षचन्द्र इनसे भी अधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुए। उन्होंने भरतमिलाप और बुढ़वामङ्गल के स्थानीय मेलों को महत्त्वपूर्ण बनाने में बड़ा योग दिया। गोस्वामी गिरिधर लाल के आशीर्वाद से उनके कुछ बड़ी उम्र में पुत्र हुआ। ये ही भारतेन्दु के पिता गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदास (१८३३-१८६०) थे। गोपालचन्द्र अभी ११ वर्ष के थे कि उनके पिता का देहांत हो गया। गोपालचन्द्र अपने समय के अच्छे कवि हुए। उनके पिता हर्षचन्द्र को भी हिन्दी से प्रेम था और वे भी कविता किया करते थे जो अप्राप्त हैं। परन्तु गोपालचन्द्र को कविता से रुचि ही नहीं थी, उनका जीवन ही कविता और सेवा-पूजा में व्यतीत होता था। पाँच भक्ति-पद बनाए बिना वे खाना ही नहीं खाते थे। वे परम वैष्णव थे। परन्तु उन्हें काव्यशास्त्र का भी उच्च कोटि का ज्ञान था। अपने कुछ ग्रन्थों में उन्होंने काव्य-कौशल, और अलंकारों की ऐसी छटा दिखलाई है कि साधारण पाठक के लिए उनका समझना भी कठिन है। उनकी विद्वत्ता का पता इसी से चलता है कि उन्होंने अलंकार और रस-रीति पर कई ग्रंथ लिखे हैं। उनका साहित्य भी हरिश्चन्द्र के साहित्य की भाँति विपुल है, यद्यपि उसमें कविता ही अधिक है। ब्रजरत्नदास के अनुसार उन्होंने ४० ग्रंथ लिखे "जिनमें कुछ का

अस्तित्व है, कुछ का ज्ञात है और बाकी का कुछ भी पता नहीं है)" (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ४१)। इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण है—जरासंध महाकाव्य, २ भारती-भूषण (लक्षण ग्रन्थ), ३ भाषा व्याकरण, ४ रसरत्नाकर (हाव-भाव), ५ ग्रीष्म-वर्णन, ६ मत्स्यकथामृत, ७ कच्छपकथामृत, ८ वाराहकथामृत, ९ नृसिंहकथामृत, १० वामनकथामृत, ११ परशुराम कथामृत, १२ रामकथामृत, १३ बलरामकथामृत, १४ कृष्णकथामृत, १५ कल्किकथामृत, १६ नहुष नाटक, १७ गर्गसंहिता, १८ एकादसी महात्म्य, १९ प्रेमतरंग, २० ककारादिसहस्रनाम, २१ कीर्तन के पद, २२ मलार के पद, २३ वसंत के कीर्तन, २४ बहार। अन्य रचनाएँ इतना महत्त्वपूर्ण नहीं और उनमें से अधिकतर उपलब्ध नहीं हैं। गिरिधरदास की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि वह प्रतिभावान कवि थे।

भारतेन्दु की जन्म-तिथि सितम्बर सन् १८५० (तदनुसार भाद्रपद शु० ऋषि पंचमी १९०७) है। पाँच वर्ष की आयु में वह मातृविहीन हो गये, १० वर्ष जाते-जाते पिता-विहीन। गोपालचंद भंग बहुत पिया करते थे इससे उन्हें जलोधर हो गया था। इसी में प्राण दे दिए। इतनी छोटी सी अवस्था में श्री भारतेन्दु को विमाता और घर के हितेच्छुकों का सामना करना पड़ा।

वैष्णव संस्कार पिता और परिवार से मिले ही थे। तीन वर्ष की आयु में ही इन्हें कंठी का मन्त्र दिया गया था। ९ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत हुआ और वल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज ने इन्हें गायत्री मंत्र का उपदेश दिया। इसी उत्सव में गोपालचंद की मृत्यु हो गई।

शिक्षा-दीक्षा बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो गई थी और पं० ईश्वरीदत्त ही इन्हें पढ़ाते थे। मौलवी ताजअली से कुछ उर्दू

पढ़ा था, और अँग्रेजी की आरम्भिक शिक्षा इन्हें पं० नन्दकिशोर जी से मिली थी, कुछ दिन इन्होंने ठठेरी बाजारवाले महारानी स्कूल में तथा कुछ दिन राजा शिवप्रसाद जी से शिक्षा प्राप्त की थी। (व्रजरत्नदास, ५६) पिता की मृत्यु पर क्वीन्स कालेज में भरती किये गये परन्तु प्रकृति स्वच्छन्द थी, घर में लाड़-प्यार कम नहीं मिलता था, ध्यान लगा कर नहीं पढ़ा।

१५ वर्ष की आयु में (१८६५) भारतेन्दु को सपरिवार जगन्नाथपुरी जाना पड़ा और पढ़ाई का सिलसिला टूट गया, फिर नहीं जुड़ा।

जगन्नाथपुरी यात्रा से लौटने पर भारतेन्दु काशी में रहकर साहित्य और समाज की सेवा करने लगे। परन्तु अपने जीवन में थोड़े थोड़े दिनों के लिए उन्होंने दूर-समीप की यात्राएँ भी कीं — बुलन्दशहर (१८६६), चरणाद्रि, कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, ब्रज, आगरा (१८७१), अजमेर, प्रयाग (१८७७), प्रयाग (१८७९), अयोध्या, हरैया बाजार, बस्ती, गोरखपुर, बलिया (१८८४)। इन स्थानों के सिवा यह डुमरांव, पटना, कलकत्ता प्रयाग, हरिहर क्षेत्र आदि स्थानों की भी यात्रा करते थे। (ब्रजरत्नदास, ६४)

१३ वर्ष की आयु (१८६३) में विवाह हो गया। पत्नी का नाम मन्नोदेवी था जो शिवालय के रईस लाला गुलाबराय की पुत्री थीं। इनसे दो पुत्र और एक पुत्री हुई थी। पुत्र शैशवावस्था में ही जाते रहे। पुत्री रही। नाम विद्यावती था। इन्हें भारतेन्दु ने हिन्दी, बंगला और भी संस्कृत की अच्छी शिक्षा दिलाई थी। मई १८८० में इनका विवाह सम्पन्न हुआ। भारतेन्दु की मृत्यु (१८८५) के बाद उनकी पत्नी ४२ वर्ष (१९२६) तक जीवित रहीं। भारतेन्दु जी इनके प्रति उदासीन थे जिससे इन्हें बड़ा दुःख होता

था। माधवी और मल्लिका नाम की दो स्त्रियों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। माधवी जगतगंज के किशुनसिंह की लड़की थी। वह ऋण लेने-देने के लिए भारतेन्दु के घर उनके भाई के पास जाती थी। इसी समय उनका परिचय हुआ होगा। कुछ दिनों बाद वह अलीजान नाम से मुसलमानी हो गई। भारतेन्दु ने उन्हें शुद्ध करके अपनाया। अलग महाल में एक मकान लेकर उसे रखा। प्रायः रात्रि को वहीं रहते थे। मृत्यु तक वही अवस्था बनी रही। मल्लिका कुलीन विधवा बंगालिन थी। कवि थी। इन्हें स्वामी के रूप में मानती थी। अतः उससे इनका प्रेम और भी गहरा था। भारतेन्दु के मकान के पीछे गली में सामने एकाकिनी रहती थी। किसी ने जान-पहचान करा दी। भारतेन्दु ने उसे आश्रय दिया। उसने हिन्दी और बंगला के अनेक पद और कविताएँ चन्द्रिका उपनाम में लिखीं और राधारानी, सौन्दर्यमयी और चन्द्रप्रभा बंगला उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद किया। भारतेन्दु ने अपने पत्रों में बाबू गोपालचंद्र को अपने मरने के बाद उसकी रक्षा करने का भार सौंपा था। उन्होंने भी अपने जीवन भर इसकी सहायता की। इनके अलावा भारतेन्दु के यहाँ उस समय की सभी वेश्याएँ आती थीं। वह बड़े सौन्दर्योपासक और रसिक थे। वह अलिप्त भाव से इनकी संगति करते थे और इनके हाव-भाव और वार्तालाप में उन्हें नई-नई उक्तियाँ सूझती थीं।

मित्रों की संख्या तो और भी बड़ी थी। उस समय के अधिकारी लेखक, सम्पादक, हिन्दी-हितैषी, रसिक सहृदय कितने ही मित्र थे। एक भारतीय नरेश बलदेवसिंह के भ्रातृपुत्र दुर्जन-साल के पुत्र राव कृष्णदेव शरण (गोप) थे। इन्होंने 'चंद्रावली' नाटिका को ब्रजभाषा में रूपांतरित किया और 'प्रेम-संदेश' 'मान-चरित' आदि रूपकों और पदों की रचना की। धोती के

राजा महेश्वरसिंह भी इनके मित्र थे। इसी तरह गढ़ा परगना (जबलपुर) के तालुकेदार राजा अमानोसिंह गोरिया जिन्होंने 'मदनमञ्जरी नाटक' की रचना की। 'श्यामा-स्वप्न' के लेखक और मेघदूत के अनुवाद-कर्ता हिन्दी के प्रसिद्ध कवि ठा० जगमोहन सिंह। मिर्जापुर के पं० बद्रीनारायण उपाध्याय चौधरी (प्रेमघन) तो वेषभूषा में भी हरिश्चन्द्र का अनुकरण करते थे। थे इनके अतरंग मित्र थे। पं० बालकृष्ण भट्ट जिन्होंने उनके उत्साह से प्रेरित हो हिन्दी प्रदीप निकाला (१८७७) और ३२ वर्ष तक उसे धनाभाव में भी निकालते रहे। पं० प्रतापनारायण मिश्र जिनका "ब्राह्मण" अपने समय का अपूर्व पत्र था। लाला श्रीनिवासदास (दिल्ली)। लाला तोताराम (अलीगढ़)। राधाचरण गोस्वामी। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या। हिन्दी भाषा के विद्वान् तथा रामायणी पं० बेचनाराम। पं० दामोदर शास्त्री। डा० राजेन्द्र लाल मिश्र। पं० रामशंकर व्यास। कीन्स कालेज के अध्यापक पं० रामेश्वरदत्त सरयूपारीण। प्राचीन लिपिविद् पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी। हिंदी भाषा के प्रेमी फ्रेडरिक पिन्कारैंट (१८३६-१८६८)। ईश्वरचंद्र विद्यासागर (१८२०-१८६१) जिन्होंने शकुन्तला को इनके यहाँ ठहर कर संपादित किया और इन्हें ही भेंट किया। बाबा सुमेरसिंह (आजमगढ़ निवासी) जो हिन्दी के अच्छे लेखक और कवि एवं सिख गुरु थे (मृत्यु १६०३)। 'कलिराज की सभा' के लेखक वकील मु० ज्वालाप्रसाद, बा० बालेश्वरप्रसाद (सं० काशी पत्रिका), रत्नाकर के पिता बा० पुरुषोत्तमदास, बा० केशोराम, बा० माधोदास। उनके फुफेरे भाई और अभिन्न मित्र राधाकृष्णदास (१८६५ ई०)। मित्रों की इस सूची को देखकर यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतेन्दु काल के सभी बड़े हिन्दी लेखकों, कवियों और सम्पादकों को भारतेन्दु से प्रेरणा मिली थी और कितनों को हिन्दी की ओर उनके ग्रंथों

और उनके पत्र 'कविवचनसुधा' ने प्रेरित किया था। उस समय हिन्दी का न कोई नया साहित्य था, न कुछ पुराना साहित्य सम्पादित होकर सामने आया था। भारतेन्दु ने नये साहित्य का निर्माण किया और प्राचीन साहित्य को हरिश्चन्द्र-चंद्रिका द्वारा पाठकों के सामने लाये। उन्हें कितने ही प्रसिद्ध हिन्दी - सेवियों को क्षेत्र में लाने का श्रेय है जिनमें "ब्राह्मण" के सम्पादक और हिन्दी के उत्तम निबंधकार प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। उस युग के सब हिन्दी पत्र भारतेन्दु मंडली के लेखकों ने ही निकाले और हिंदी प्रदीप (१८७७-१९१०) और 'भारत जीवन' (१८८४-१९२३) का तो नामकरण ही भारतेन्दु ने किया था, एवं उनके लिए 'मोटो' दिए। 'ब्राह्मण', 'मित्रविलास', 'आनन्द कादंबिनी', 'नागरीनीरद', 'भारतबन्धु', 'भारतेन्दु' उस समय के प्रमुख पत्र थे। इनके सम्पादकों ने कवि-वचनसुधा में लिखकर अपने पत्रकार जीवन का आरम्भ किया था और भारतेन्दु इन्हें सदा परामर्श और लेखादि से सहायता देने को तैयार रहते थे। 'हिन्दी प्रदीप' जब निकला तो उन्होंने कवि-वचनसुधा के ग्राहकों की सूची ही सहायतार्थ भेज दी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु १८६७ से १८८५ तक हिन्दी सम्बन्धी सभी चेष्टाओं पुस्तक-लेखन, पुस्तक-संपादन, भाषा-परिष्कार, गद्य-पद्य साहित्य, अनुवाद, पत्रकार-कला, लेख, व्याख्यान, रंगमंच सभी में अग्र रहे और उन्हीं का व्यक्तित्व इन क्षेत्रों में सबसे अधिक क्रान्तिकारी रहा। इनमें से कितने ही अंगों का परिवर्तन भी उन्हीं ने किया। उनका प्रभाव उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त नहीं हो गया परन्तु शताब्दी के अंत तक साहित्य की गति-विधि उन्हीं के आदर्शों से प्रभावित रही।

१८७० तक भारतेन्दु ने देशोपकार और समाजसुधार के [illegible]

उनका हाथ पहले ही से खुला हुआ था, जो आता निकल जाता। इसमें उनके घरवालों को उनके प्रति वैमनस्य हो गया। तब तक उनके भाई गोकुलचंद नाबालिग थे। अब वे वयस्क हो गए थे और बालिग होते ही एक दिन खजाने के दरवाजे पर बैठ गये। जब भारतेन्दु उसे खोलने पहुँचे तो कहा—"आपने अपने भाग का धन सब खर्च कर डाला है तथा अब जो कुछ आप इसमें से लेंगे हमारे हिस्से का लेंगे।" (ब्रजरत्नदास) यहीं से बटवारे का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु अत्यन्त उदार-हृदय थे, अतः चल-सम्पत्ति का जो दे दिया होगा, ले लिया होगा। वह तो सब कुछ छोटे भाई पर छोड़ने को राजी थे। अचल सम्पत्ति में "भारतेन्दु जी के हिस्से में एक मकान, एक दूकान, कोरौना मौजा का अर्द्धांश, परमिट वाली कोठी, नवाबगंज बाजार का आधा, एक मकान मौजा भद्दराजी व सहारनपुरी और मौजा कोरा घरौरा व देयरा का आधा हिस्सा तथा कुछ फुटकर खेत और जमीन मिली थी।" (ब्रजरत्नदास, १०४) "इस प्रकार घराऊ सम्पत्ति का भाग हो जाने पर भारतेन्दुजी अपने ही घर में निराश्रय से रह गये। इनके यहाँ आनेवाले कवि, गुणी आदि इन्हीं के आश्रित थे। व्या-पार या धन प्रबन्ध में थे ही नहीं। तक़सीम के समय इन्हें विशेष मिला ही न था इसलिए ऋण लेकर काम चलने लगा और उसी में स्थावर सम्पत्ति का शीघ्र नाश हो गया।" (वही, १०४) मातामही की वसीयतनामा में यह स्पष्ट ही व्यवस्था थी कि इन्हें कुछ भी न मिले, वे जानती थीं यह सारी सम्पत्ति लुटा देंगे। उधर की सारी सम्पत्ति बाबू गोकुलचंद को ही मिली। नगदी के रूप में जो मातामह का रुपया मिला वह शीघ्र ही ऋण और अपव्यय में उड़ गया।

राजा शिवप्रसाद से हिंदी हितैषियों को बड़ी चिढ़ थी। इसमें जब इन्हें सी० आई० ई० और सितारे हिंद की पदवी मिली, तो

जनता में यह प्रस्ताव हुआ कि वह भारतेन्दु को किसी पदवी से विभूषित करें। इससे पहले ही हरिश्चंद्र अपने सीमित वर्ग में "भारतेंदु" बन चुके थे। पं० रघुनाथ ने इन्हें चिढ़ाने के लिए व्यवस्था की थी "आपको कुछ ध्यान नहीं रहता कि कौन आदमी कैसा है, सभा का अपमान किया करते हो। जैसे आप अपने सुयश से जाहिर हो उसी तरह भोग-विलास और बड़ों से बात न करने से आप कलंकी भी हो। इसलिए आज से मैं आपको भारतेन्दु नाम से पुकारा करूंगा !! (ब्रजरत्नदास, ११३)

सुधाकर द्विवेदी ने व्याख्या की—पूरे चाँद में कलंक देख पड़ता है, आप दुइज के चाँद हैं (वही)। धीरे-धीरे उनके पाथिर्यों पर और कविवचनसुधा आदि पर, दुइज का चाँद छपने लगा। २७ सितंबर १८८० ई० में 'सार सुधानिधि पत्र में पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने 'भारतेन्दु' से विभूषित करने का प्रस्ताव किया। सभी पत्रों ने एक स्वर से इसका समर्थन किया। फिर तो हरिश्चन्द्र प्रजा, भारत सरकार और यूरोपीय विद्वान सभी के लिए 'भारतेन्दु' हो गये। १८७० ई० में बटवारे के बाद कुछ दिनों में ही भारतेन्दु की अस्थावर सम्पत्ति परोपकार, दान पुण्यादि कामों में उड़ गई। घरवाले उन के इस 'घर फूँक तमाशा देख' व्यवहार से क्षुब्ध थे ही, वे सरकार के भी कोपभाजन बन गये। धीरे धीरे सरकार ने उनके तीनों पत्रों की कापियाँ लेना बंद कर दिया जिससे इन पत्रों से भी किसी आर्थिक लाभ की सुविधा नहीं थी। कविवचन-सुधा के २५० ग्राहक थे, अन्य पत्रों के इन से भी कम। यहाँ भी हरिश्चन्द्र के हिन्दी सेवा व्रत के लिए अर्थायोजन करना पड़ा। परन्तु घर के तिरस्कार और परोपकारादि के लिए अर्थ-संकोच ने उनके मन को चिन्ताग्रस्त कर दिया। उनके नाटकों में यहाँ वहाँ उनकी मन-स्थिति की अच्छी झाँकी मिलती है।

धीरे-धीरे अर्थकष्ट और मानसिक दुर्व्यवस्था ने शरीर को

जर्जर और रोगग्रस्त बना दिया। सन् १८८२ की उदयपुर की यात्रा शरीर को सहन न हो सकी। ये श्वास, खाँसी और ज्वर से पीड़ित हो गये। सन् १८८३ में (सं० १९४० चैत्र) हैजे का प्रकोप हुआ परन्तु ईश्वरानुग्रह से बच गये। अभी पूर्ण स्वस्थ न हुए थे कि शरीर की चिन्ता छोड़कर अपने लिखने-पढ़ने के कार्यों में लग गये। सं० १९४० चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को सात दिन बाद ही हम उन्हें नाटक समाप्त करते हुए पाते हैं। उधर रोग दब ही गया था, जड़-मूल से नष्ट नहीं हुआ था। शीघ्र ही क्षय के चिन्ह प्रकट होने लगे। दूसरी जनवरी १८८५ से बीमारी बढ़ने लगी। दवा व इलाज सब व्यर्थ सिद्ध हुए। अन्त तक चेतना बनी रही। ६ जनवरी सन् १८८५ (माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ वि) पौने दस बजे रात हिंदी-साहित्य का वह चंद्र अस्तांगत हो गया। अंतिम अस्फुट वाणी में श्रीकृष्ण सहित स्वामिनी को याद करता हुआ आधुनिक हिन्दी का अग्रदूत वाणी का वरपुत्र हरिश्चन्द्र अपनी कीर्ति की चन्द्रिका पृथ्वी पर छोड़ कर गोलोकवासी हुआ।

भारतेन्दु की मृत्यु पर शोक का जो व्यापक प्रकाश हुआ, समाचार पत्रों में उनकी मृत्यु पर जो सैकड़ों कालम रंगे गए उनके मृत्यु तिथि पर हरिश्चन्द्र का जो आन्दोलन चला और सबसे अधिक उनके मित्रों और परवर्ती साहित्यिकों के साहित्य पर उनकी छाप —इन सब से उनके युग प्रवर्तक व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा पर प्रकाश पड़ता है। भारतेन्दु युग का साहित्य गोष्ठी साहित्य था। भारतेन्दु इस गोष्ठी के केन्द्र थे। इस गोष्ठी के लेखकों में परस्पर समानधर्मा मित्रों जैसा व्यवहार था। आपस में पत्र-व्यवहार रहता। एक लेखक दूसरे लेखक की रचनाओं को पढ़ता, उस पर विचार-विनिमय करता और अपनी अगली रचनाओं से उसे सूचित करता और उसके परामर्श की

इच्छा रखता। उस समय हिंदी का पाठकवर्ग बहुत छोटा था। लेखक एक दूसरे के लिए ही अधिक लिखते थे। इसी से उनका एक निश्चित वर्ग था, वह चाहे पास थे चाहे दूर उनकी एक गोष्ठी थी, इसी से किसी एक प्रतिभाशाली लेखक का दूसरे लेखकों को प्रभावित करना सरल था। भारतेन्दु ही इस समय के सब से प्रतिभाशाली लेखक थे। उनके पास धन था, ऐश्वर्य था, साहित्यकों के प्रति वे मुक्तहस्त थे, अनेक भाषाओं और साहित्यों का उन्हें ज्ञान था। ऐसा बहुगुणी व्यक्ति ही इस गोष्ठी साहित्य का नेता हो सकता। फिर भारतेन्दु तो इस गोष्ठी के आदि पुरुष ही थे, उन्होंने ही इस गोष्ठी का निर्माण किया था। उन्हीं के उत्साह से इस अर्द्ध शताब्दी के लगभग सभी लेखकों ने हिंदी में लिखना आरम्भ किया था और उन्हीं के साहित्यिक के आदर्शों की ओर वे देखते रहते थे। भारतेन्दु में नेता के सभी गुण थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के उदाहरण से और पत्र व्यवहार से इन लेखकों और सहयोगियों को बराबर उत्साहित किया और उनका मार्ग प्रदर्शन किया। पं० बद्रीनारायण उपाध्याय चौधरी (प्रेमघन) पहले उर्दू के प्रेमी और लेखक थे, श्री भारतेन्दु ने इनको इतना प्रभावित किया कि हिंदी के प्रसिद्ध गद्य-लेखक हो गये। और दो सुन्दर पत्रिकाओं के सम्पादक। इनके पहले लेख 'कवि वचन सुधा' में ही छपे थे। पं० बालकृष्ण भट्ट में हिंदी-सेवा की लगन भी इसी पत्रिका और भारतेन्दु के ग्रंथों के अध्ययन से शुरू हुई थी। प्रतापनारायण तो भारतेन्दु को अपना गुरु ही मानते थे। बाबू तोताराम कायस्थ थे, जब काशी आये तब भारतेन्दु के सत्संग से हिंदी लिखने लगे। इनका 'भारत बन्धु' (साप्ताहिक १८७७) समसामयिक पत्र पत्रकला के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण है। लाहौर जैसे दूर स्थान से गोस्वामी श्री ज्वाला-दत्त प्रसाद ने 'भारतेन्दु' (१८८१) पत्र निकाला था और बाद में

राधाचरण गोस्वामी इसे बृन्दावन ले गये। इन सब बातों से उस युग में भारतेन्दु की महानता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

२

भारतेन्दु की रचनाएँ

भारतेन्दु की रचनाएँ प्रकार और परिमाण दोनों में बहुत बड़ी हैं। उस युग के किसी भी साहित्यिक ने न साहित्य के इतने अंगों को छुआ है, न उसमें इतनी क्रान्तिकारी नवीनता का पुट दिया है, जितना भारतेन्दु ने। नाटक, कविता, निबंध, अनुवाद मिश्रकाव्य, आख्यान, खोज सम्बन्धी निबंध, लेख, यात्राविवरण, परिहास। पत्र, समाचार पत्र और पत्रिकाएँ—साहित्य का कोई भी अंग भारतेन्दु से अछूता नहीं है। २० वर्ष के छोटे अवकाश में भारतेन्दु ने हिन्दी-साहित्य-जगत को कई महत्व पूर्ण दिये। इनमें ऐसा बहुत है जो काल के गरल दंत से अक्षत रहेगा। उस समय तक ज्ञान-विज्ञान के जितने भी साधन थे, उनमें भी लाभ उठाकर भारतेन्दु ने उसे युग के अनुकूल ही वस्तु दी थी। उनसे अच्छे नाटककार मिल सकते हैं। उनसे अच्छे निबंधकार भी हैं, परन्तु कोई ऐसा नहीं जो एक ही साथ कवि, नाटककार, आख्यान (उपन्यास-) कार, निबंध-लेखक, पुरातत्ववेत्ता, इतिहासज्ञ और पत्रकार रहा हो और सब ऊँची कोटि का रहा हो।

१—नाटक

भारतेन्दु की सब से महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मौलिक और अनूदित नाटक हैं। मौलिक नाटक ६ हैं—१ सत्य हरिश्चन्द्र, २ चन्द्रावली, ३ भारत-दुर्दशा, ४ नीलदेवी, ५ अंधेर नगरी, ६ वैदकी हिंसा हिंसा न भवति, ७ विषस्य विषमौषधम्, ८ सती-

प्रताप, ६ प्रेमयोगिनी। इनमें सती प्रताप और प्रेमयोगिनी अपूर्ण हैं। अनुवाद संस्कृत, बङ्गला और अंग्रेजी से प्रस्तुत किये गये है। इनकी संख्या ८ है। संस्कृत मे मुद्राराक्षस, धनञ्जय विजय, रत्नावली नाटिका। प्राकृत से कर्पूरमंजरी। बंगला से विद्या-सुन्दर, भारत जननी, पाषंड विडम्बन। अंग्रेजी से दुर्लभ-बंधु है। पूर्ण नहीं हो सका है। 'नवमल्लिका' नाटक (अपूर्ण, अप्रकाशित) मृच्छकटिक (अपूर्ण, अप्राप्य, अप्रकाशित)।

२--भक्तिकाव्य सम्बन्धी ग्रन्थ और भक्तकाव्य ग्रंथ

१ भक्त सर्वस्व, २ वैष्णव सर्वस्व, ३ वल्लभीय सर्वस्व, ४ युगल सर्वस्व, ५ तदीय सर्वस्व, ६ भक्तिसूत्र वैजयन्ती, ७ सर्वो-त्तमस्तोत्र भाषा, ८ उत्तरार्ध भक्तमाल, ९ भक्तबावनी, १० वैष्ण-वता और भारतवर्ष, ११ अष्टादश पुराणोभक्त मणिका, १२ वैशाख माहात्म्य, १३ कार्तिक कर्मविधि, १४ कार्तिक नैमित्तिक कृत्य, १५ मार्गशीर्ष महिमा, १६ माघ स्नान विधि, १६ पुरुषोत्तम मास विधान, १८ पुरुषोत्तम पंचक, १९ कार्तिक स्नान, २० गीत-गोविंद, २१ देवी छद्मलीला, २२ प्रातः स्मरणीय मङ्गल पाठ, २३ भीष्म स्तव, २४ श्रीनाथ स्तुति, २५ अपवर्गपंचक, २६ श्री सीतावल्लभ स्तोत्र, २७ प्रेमाश्रुवर्षण, २८ वर्षा विनोद, २९ प्रेम-माधुरी, ३० जैन कुतूहल, ३१ प्रेममालिका, ३२ वेणुगीत, ३३ प्रेमतरंग, ३४ रागसंग्रह, ३५ प्रातःस्मरण स्तोत्र, ३६ स्वरूप-चिंतन, ३७ प्रेमसरोवर, ३८ प्रबोधिनी, ३९ प्रातः समीरन, ४० कृष्णगीत, ४१ विनय प्रेम-पचासा।

३---काव्य

भक्ति-विषयक काव्य का उल्लेख ऊपर हो चुका है। शृङ्गार काव्य भी कम नहीं है। काव्य में तो शृङ्गार की छाया है ही,

हरिश्चन्द्र रसिक प्रेमी कवि थे, अतः पद, दोहे, सवैयों और कवित्तों में उन्होंने अलग भी लौकिक प्रेम का वर्णन किया है। मुख्य ग्रंथ हैं—होली, मधुमुकुल, प्रेम फुलवारी, फूलों का गुच्छा, नये जमाने की मुकरी, प्रेमप्रलाप, सतसई सिङ्गार।

हरिश्चन्द्र नई काव्य-धारा के आदि प्रवर्तक भी हैं। उनकी राजभक्ति और राष्ट्रीय भक्ति पर की कितनी ही कविताएँ हमें प्राप्त हैं:—विजयिनी-विजय, वैजयन्ती, भारतवीणा, भारत शिक्षा, राजकुमार स्वागतपत्र, मनोमुकुलमाला, मानसोपासन, सुमनांजलि, जातीय संगीत और प्रिंस ऑव वेल्स के पीड़ित होने पर कविता।

इनके अतिरिक्त इनके नाटकों में इधर उधर कितनी ही सुन्दर और भावपूर्ण कविताएँ बिखरी पड़ी हैं।

४—इतिहास और खोज

इतिहास और खोज सम्बन्धी लेख भी भारतेन्दु के प्रसिद्ध हैं—काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, बूँदी राज्य का इतिहास का राजवंश, रामायण का समय, अग्रवालों की उत्पत्ति, बादशाह दर्पण, उदयपुरोदय अर्थात् मेवाड़ का पुरावृत्त संग्रह, पुरावृत संग्रह चरितावली, पंच पवित्रात्मा, दिल्ली-दरबार-दर्पण और कालचक्र।

५—कथात्मक निबंध और आख्यान

हमीर हठ (अपूर्ण, अप्रकाशित गद्य), राजसिंह (अपूर्ण गद्य) एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती (अपूर्ण), सुलोचना (आख्यान), मदालय (आख्यान), सीलवती (आख्यान), स्वर्ग में विचार सभा, बंदर सभा (अपूर्ण)।

६—परिहास—लेख और कविता

'परिहास पंचक' में जाति विवेकिनी सभा, स्वर्ग में विचार

सभा, सबै जाति गोपाल की, बसंत पूजा और खंड-भंड सम्वाद। 'परिहासिनी' में वेश्या स्तोत्र, अँगरेज स्तोत्र, कंकड़ स्तोत्र आदि छोटे-मोटे हास्यलेख हैं इनमें "पाचवाँ पैगम्बर" भी है। बन्दर-सभा, जो अमानत के इन्दर-सभा को "पैरोडी" है। इसके अतिरिक्त नाटकों में परिहास और व्यंग की मात्रा कम नहीं है।

७—अन्य ग्रन्थ

१—अनुवाद—क़ुरान शरीफ़ के कुछ अंश का हिन्दी अनुवाद।

२—हिन्दी भाषा।

३—संगीतसार।

४—कृष्णभोग (कृष्णपाक)

५—श्रुतरहस्य।

६—नारदसूत्र।

७—चतुःश्लोकी।

८—सीतावट निर्णय।

९—'तहक़ीक़ातपुरी' की तहक़ीक़ात।

१०—प्रशस्ति-संग्रह।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चंद्र आधुनिक हिंदी के आदि युग में खड़े हैं, परन्तु उनकी साहित्य रचना भगीरथ प्रयास से कम नहीं। इतने ग्रन्थ और इतनी प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के किसी भी साहित्यिक ने नहीं दीं।

३

कविता

भारतेन्दु का काव्य-साहित्य बहुत विशद और विभिन्न है। एक ही स्थान पर उस सबकी समीक्षा करने में विभिन्न मापदण्डों के प्रयोग करने की कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वे प्रकृत्यः कवि थे। उनका सारा जीवन ही काव्यमय था। वे साधारण कवि भी नहीं थे, वरन् आशु कवि थे। लिखने का सामान सदा साथ रहता था। जब लेखनी उठाते तो धारावाही रूप से लिखते और सुनाते। छत पर टहलते तो नौकर काग़ज़, क़लम-दावात लेकर हाज़िर रहता। बाहर टहलने जाते तब भी यही हाल। इसी से भारतेन्दु का काव्य-साहित्य बहुत अधिक है।

भारतेन्दु का काव्य कई रूपों में प्रकाशित हुआ है। वे भक्त थे और उनमें पूजा-भाव की प्रधानता थी। वे भक्त-साहित्य का अध्ययन बराबर करते रहे। उनका यह नियम था कि कुछ न कुछ भक्त-काव्य दिन भर में अवश्य लिखते। अपने नाटकों में बीच बीच में उन्होंने अनेक कविताएँ लिखी हैं। समस्यापूर्ति के लिए लिखी हुई कविताओं की संख्या भी कम नहीं है और कभी-कभी एक ही समस्यापूर्ति पर अनेक कविताएँ लिखी गई हैं। राजनैतिक कविता अधिकतर समसामयिक घटनाओं से प्रभावित होकर लिखी गई। "मल्लिका" के संसर्ग से उन्होंने कुछ बँगला कविताएँ भी लिखीं। वे अपने समय के उर्दू के प्रतिष्ठित कवि थे और उनके घर पर बराबर मुशायरे हुआ करते थे। वे "रसा" उपनाम से उर्दू कविता लिखा करते थे। बहुत-सी कविताएँ इस

श्रेणी में आती हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक पद्य प्रयोग-मात्र के लिए लिखे हैं। इस बड़े भारी काव्य-साहित्य को आँकने के लिए हमें कई भाग करने पड़ेंगे : (१) गीति काव्य (भक्तिकाव्य) (२) कवित्त-सवैये (३) खंडकाव्य (४) खड़ीबोली काव्य (५) उर्दू काव्य (६) संतकाव्य के ढंग की कविता (७) लोककाव्य (ठुमरी, लावनी, होरी, फाग आदि) (८) राष्ट्रीय काव्य (९) बँगला काव्य।

भारतेन्दु के गीति-काव्य की श्रेणी में लगभग डेढ़ हजार पद आते हैं। इतने सुन्दर पद इतनी संख्या में अष्टछाप के कवियों के बाद नहीं बने। इन पदों का विषय राधाकृष्ण लीला है परंतु अन्य विषयों का समावेश भी कुछ पदों में मिलता है। कृष्ण-काव्य के सब अंग इन डेढ़ हजार पदों में आ जाते हैं और बाल-लीला, राधाकृष्ण प्रेमविलास, मान, रूप-वर्णन, वन्शी, दान, विरह, मिलन, भ्रमरगीत (उद्धव-गोपी-संवाद), नैन और मन के प्रति कहे पद इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन सब विषयों पर हरिश्चन्द्र ने जो कुछ लिखा है वह अधिक नवीन नहीं है, हो भी नहीं सकता था, क्योंकि अष्टछाप के कवि और हितहरिवंश आदि कृष्णभक्त सब कुछ लिख चुके थे। फिर भी अनेक स्थलों पर नवीन भावनाएँ हैं ही। ऐसी भावनाएँ कहीं नवीन कथा स्थापन में मिलेगी, कहीं भाव-विकास में। इन दोनों के लिए हमें हरिश्चंद्र का ही अनुगृहीत होना पड़ेगा।

भारतेन्दु पुष्टि सम्प्रदाय के कृष्णभक्त थे। इससे उनकी कविता का सबसे बड़ा भाग वैष्णव साहित्य के अंदर आता है। वैष्णव कृष्ण-भक्ति-काव्य के जितने भी अंग हैं सभी पर कुछ न कुछ लिखा है। प्रातःस्मरणीय नाभादास के भक्तमाल के ढंग का छप्पय ग्रंथ है परन्तु उसमें केवल स्मरण योग्य लीला, धर्मग्रंथ, भागवत (भक्त) और वैष्णवों की सूची है। इस ग्रंथ से उनके

भक्ति-भाव पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए हम एक छंद ले सकते हैं—

> सुमिरौं राधाकृष्ण, सकल मंगलमय सुन्दर
> सुमिरौं रोहिनिनंदन रेवतीपति कर हलधर
> जसुदा कीरति भानुनंद गोपी समुदाई
> वृन्दावन गोकुल गिरिवर ब्रजभूमि सुहाई
> कालिंदी कलि के कलुष गन हारिनि सुमिरौं प्रेम बल
> ब्रज गाय वच्छ तृन तरु-लता पशु-पक्षी सुमिरौं सकल

दूसरी पुस्तक 'स्वरूपचिंतन' में जयगान और रूप-वर्णन है। 'प्रबोधनी' में जगाने के छंद (मंगला के गीत) हैं। इनमें खंड-काव्यात्मकता भी है, और नवीनता यह रक्खी गई है कि अंत के छंदों में भारत की दुर्दशा का वर्णन करके भगवान से जागने को कहा गया है। वेणुगीत एक छोटा पद-संग्रह है जिसमें १३ पद हैं। पदों का विषय रूप-वर्णन, वंशी और यमुना-वर्णन है। परंतु पदों के आरम्भ और अंत में दोहे रखकर खण्ड-काव्य की सृष्टि की गई है—

आरम्भ में—

> श्री वृन्दावन नित्य हरि, गोचारन जग माहिं
> विरह बेलि तबही बढ़ी, गोपीजन उर माहिं
> तबही चरित अनेक विधि, गावहिं तनमय होइ
> करहिं भाव उर के प्रगट, जे राखे बहु गोइ

अंत में—

> कृष्णचन्द्र के विरह में बैठि सबै ब्रजबाल
> एहि विधि बहु बातें करत तन सुधि बिगत बिहाल
> जब लौं प्यारे पीय को, दरस होत नहिं नैन
> इक छन सौ जुग लौं कटत, परत नहीं जिय चैन

साँझ भये हरि आइ के, पुरवत सबकी आस
गावत तिनको विमल जस, हरीचंद हरिदास

"फूलों का गुच्छा' खड़ी बोली लावनी में आध्यात्मिक काव्य है—

कभी न देखे नजर उठा कर गरचे सामने खड़ा हो शाह
या फ़क़ीर हो, नहीं कुछ इसकी भी मुझको परवाह
यार हो रिश्तेदार हो मुझको खाक नहीं कुछ उनकी चाह
फ़कत मिलो तुम मेरे दिलबर औ मेरा करो निबाह
हरीचंद तेरे कहला कर और किसी से काम न हो
मुँह न दिखावें

देवी छद्मलीला और रानी छद्मलीला राधा की श्रेष्ठता सम्पादित करनेवाले कथा-काव्य है। देवी छद्मलीला में राधा चाहती है कि वह कृष्ण से अकेले में मिले परन्तु वह तो बहुनायक हैं; उन्हें अकेले मिलें कैसे ? तब ललिता एक बात सुझाती है। हम ग्वाल बनें, पंडित बनें, तुम देवी। उनसे कहेंगे कि देवी वृंदावन में प्रगट हुई है; तुम चलो तो दिखावें। राधा देवी बन कर मन्दिर में बैठती है और सखियाँ ग्वाल-पंडित बन कर कृष्ण के पास पहुँचती हैं। कृष्ण पूजा की सामग्री लेकर दर्शन को आते हैं और अवसर पाकर भक्ति का वरदान माँगते हैं। यशोदा किसी काम को जाती थी, वहाँ आ निकली। सब सुनकर वह भी दर्शन को आई। वह देवी से वर माँगती है—

चिर जीवौ मेरो कुँवर कन्हैया
इन नैनन हौं नित नित देखौं राम-कृष्ण दोउ भैया
अटल सोहाग रहो राधा मेरी दुलहिन ललित ललैया
हरीचंद देवी सौं माँगत आँचर छोरि जसोदा मैया

राधा मुसकाती है। इस मुस्कुराहट पर कृष्ण संदेह करते हैं। समझ में आता है प्रसादी की माला में तो राधा के स्वेद की सुगंध

है। भेद खुल जाता है। वह देवी को बीड़ा खिलाते हैं। नख, अधर को छूते ही देवी को सात्विक हो जाता है। कृष्ण समझ कर विनती करते हैं कि मान छोड़ दो। अंत में कृष्ण के पूछने पर राधा बतलाती है कि वे बहुनायक थे, अतः उनसे मिलने के लिए यह चाल चली गई, सखियाँ दोनों का विवाह रचाती हैं और राधा-कृष्ण कुञ्ज-महल में विलास करते हैं। रानी छद्मलीला १८७४ की रचना है। राधा कृष्ण को ठगना चाहती है। वृन्दा को आज्ञा देती है कि आज वह रानी बनेगी और सखियाँ उसकी परिचारिका। वनदेवियों को परवाना जारी हुआ कि श्याम को पकड़ कर हाजिर करो। सखियों ने कृष्ण को कामोदवन में घेर कर कहा कि कंस ने कामोदवन एक रानी को दे दिया है वह तुम्हें बुलाती है। तुमने उनके हुक्म के बिना क्यों गाय चराई ? वृन्दा के हृदय में कुछ शंका, कुछ उत्सुकता। मुजरा करके कृष्ण ने कहा—कहिए, मैंने तो कोई दोष नहीं किया। फिर यह पकड़ कैसी ? राधा ने रूखेपन से उनकी भर्त्सना की कि वे झूठ बोलते हैं। तब कृष्ण गिड़गिड़ाने लगे। राधा ने कहा—तुम तो कहते थे कि राधा के सिवा और किसी स्त्री का मुँह नहीं देखेंगे, झूठे, यहाँ क्यों आये ? कृष्ण पहचान कर पैरों पर गिर पड़े। राधा हँस पड़ी। मान टूट गया।

इन राधा-प्रधान कथा-काव्यों में एक अन्य कथा तन्मय लीला है जो सम्वत् १९३० की रचना है। राधा कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर कृष्ण की तरह व्यवहार करने लगती है और कुञ्जों में जाकर राधा राधा पुकारती है। सखियाँ राधा के घर आकर उसको प्रेममग्न देखकर पछताती हैं। राधा पूछती—ललिता, राधाप्यारी कहाँ है, मुझे मिला दे। सखियाँ चकित हैं। उसी समय श्याम आ जाते हैं और प्रेमावस्था पहचान कर स्वयं राधा बनकर कहते

हैं—प्यारे ! मैं आ गई। वेणुध्वनि सुनकर राधा को होश आ जाता है और अंत में युगल-मिलन सम्पन्न होता है।

भारतेंदु का अधिकांश वैष्णव काव्य ब्रजभाषा में है और कृष्ण से सम्बन्धित है। भाव, शैली, भाषा सभी की दृष्टि से वह सूर के काव्य की परम्परा में आता है। वही विषय, वही भाषा, वही शब्दविन्यास। इससे हरिश्चन्द्र का सूर का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन प्रगट होता है। कुछ काव्य तो एकदम साम्प्रदायिक हैं जैसे भक्त-सर्वस्व अर्थात् श्रीचरण-चिन्ह वर्णन (१८७०) जिसमें श्री युगल-स्वरूप के आचरणों का भाव समझाया गया है, कार्तिक स्नान (१८७२) जिसमें ब्रज की दीपावली का वर्णन है। वैशाख माहात्म्य (१८७२) जिसमें वैशाख के व्रतों एवं त्योहारों का वर्णन है। इन ग्रन्थों की कविता अत्यन्त साधारण है। इन्हें भारतेन्दु ने "अपनी कविता प्रगट करने और कवियों को प्रसन्न करने को नहीं लिखा है, केवल वाणी पवित्र करने और प्रेम रंग में रंगे वैष्णवों के आनन्द के हेतु लिखा है।" (भक्त-सर्वस्व की प्रस्तावना)

भारतेन्दु के पद्य-साहित्य में राधा-कृष्ण चरित, भक्ति, विनय, दैन्य, होली, बसन्त, फाग, वर्षादि का वर्णन है। इनमें हम कवि को कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा का विकास करते पाते हैं। अधिकांश साहित्य सूर के काव्य के आधार पर खड़ा किया गया है और उसमें भारतेन्दु को इतनी सफलता मिली है कि उनका काव्य अन्य कवियों की अपेक्षा सूरदास के काव्य के बहुत निकट पड़ता है। भाषा-शैली, भाव-भङ्गिमा, विषय-निर्वाह सब की दृष्टि में रखकर यह बात कही जा सकती है। परन्तु स्थान-स्थान पर जयदेव के गीतगोविंद की छाप भी स्पष्ट रूप से मिलती है। जयदेव के मङ्गलाचरण के समकक्ष ही हम यह मङ्गल गीत रख सकते हैं।

मंगल प्रातहि उठे कछुक आलस रस पागे
सिथिल बसन अरु बेस नैन घूमत निसि जागे
भुज तोरनि जमुहानि लपटि कै अलस मिटावनि
भूखन बसन सवाँरि परसपर नैन मिलावनि
कछु हँसनि, सीकरनि लाज सौं मुरि मुरि अंग पर गिर परनि
हरिचंद महामंगलमयी प्रात उठनि पग धरि धरनि

सूरदास के काव्य से परिचित पाठक इन पदों पर उस काव्य की ही प्रेरणा पायेंगे । जैसे—

कृष्ण-जन्मोत्सव

आनन्द सागर आजु उमगि चल्यो ब्रज में प्रगटे आइ कन्हाई
नाचत ग्वाल करत कौतूहल हेरी देत कहि नंद दुहाई
छिरकत गोपी गोप सबै मिलि गावत मंगलचार बधाई
आनंद भरे देत करतारी लखि सुरगण कुसुमन झर लाई
देत दान सम्मान नंद जू हित हुलास कछु बरनि न जाई
हरिचंद जन जानि आपुनो टेरि देत सब बहुत सनाई

आनंद सुख घेरि हेरि
ब्रजजन गावत देत बधाये नचत पिछौरी फेरि फेरि
उनमत गिनत न ग्वाल कछू ब्रज-सुन्दरि राखी गेरि गेरि
हेरी दै दै बोलत सबही ऊँचे सुर सों टेरि टेरि
छिरकत हसत हँसावति भाव्रत राखत दधि घृत मैरि मैरि
हरीचंद ऐसो सुख निरखत तन मन वारत बेरि बेरि

वर्षा-विलास

श्याम घटा छाई श्याम श्यामकुंज भयो श्यामा श्याम ठाढ़े तामें भीजत सोहैं । तैसीय श्याम सारी प्यारी तन सोहै भारि छवि देखि काम बाम चंचलाहू मोहैं ।। तैसोई मुकुट मानो घन दामिनि पर बग-पंगति तापै

मोर नच्यो है। हरीचन्द बलिहारी राधा अरु गिरिधारी सो छबि कहि सकै ऐसो कवि को है ॥

वसंत

ऋतु सिसिर सुखद अति ही सुदेस
सूचित वसंत भावी प्रवेस
मुकुलित कचनार सुठौर ठौर
लखि दरसाए नव बौर-बौर
कहुँ-कहुँ पिक बोले बैठि डार
मनु रितुपति के नव चोबदार
चाली पवन सुखद छबि कहि न जाय
चहुँ जल लहराय अनन्द बढ़ाय
फूली अलिसी सरसों सुहात
मानो मिलि मदन बसंत गात
गेंदा फूले सब डार-डार
मनु पाग पहिरि ठाढ़ी कतार
गुंजे भँवरा बन ओर-ओर
आवेस भयो तन मदन जोर
लखि बिहरत जुगल लजाय मार
हरिचंद छबि गई बहार

सूरदास के काव्य के अध्ययन से प्रभावित होकर ही हरिश्चंद्र ने उपमा और रूपक के बड़े अच्छे प्रयोग किये हैं। निम्नलिखित पद में होली खेलते हुए श्रीकृष्ण का रूप-वर्णन किया गया है। सूरदास के बाल-कृष्ण की रूप-प्रशंसा वाले पदों से परिचित रस-विद् इसमें सूरदास की शैली की भी झलक देखेंगे—

श्याम सरस मुख पर अति सोभित तनिक अबीर सुहाई
नील कंज पर अरुन किरन की मनहुँ परी परछाईं

मनु अंकुर अनुराग सरस सिंगार माँझ छबि देई
किधौं नीलमनि माथे इक मानिक निरखत मन ही लेइ
चंद बदन में मङ्गल को मनु अङ्क निरखि मन मोहै
हरीचंद छबि बरनि सकै को ऐसो कबि जग को है

रूपक के दो सुन्दर प्रयोगों के उदाहरण हम नीचे देते हैं। राधा के सौन्दर्य का सरिता से और कृष्ण के नृत्य पर सौन्दर्य का उमड़ते हुए बादलों से साम्य उपस्थित करके नूतन चित्र बनाए गए हैं—

प्यारी रूप नदी छबि देत
सुखमा जल भरि नेह तरङ्गनि बाढ़ी पिय के हेत
नैन मीन कर थल पंकज रे सोभित केस सिवार
चक्रवाक जुग उरज सुहाए लहर लेत गजहार
रहत एकरस भरी सदा यह जदपि सकत मिट भेंटि
हरीचंद बरसै साँवल घन बढ़त कूल कुल मेटि

नाचत ब्रजराज आज साजे नटराज साज, पावस सों बदि बदि कै होड़ सी लगाई। कोकिल कल वंसी धुनि नृत्य कला मोर नटनि, पीत बसन चपला दुति छीनत चमकाई। ज्यौं-ज्यौं बरसत सुवेस त्यौं-त्यौं बरसत हरि घन, गरजत उत इत रहे मृदङ्ग बजाई। हरीचंद जीति रङ्ग रह्यौ आजु ब्रज पधारैं, हारे घन रीझि देत कुसुमन झर लाई॥

विनय के पदों में भी हम भक्ति-भाव का वही उद्रेक पाते हैं जो सूरदास और तुलसीदास के विनय पदों में है। इन पदों की भाषा-शैली में संस्कृत पदावली और अलंकारों को स्थान नहीं मिला है परन्तु अपनी ऊँचे दरजे की भावुकता के कारण वे अद्वितीय हैं—

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं
जा दिन मैं तजि और संग सब हम ब्रजवास बसैहैं

गंगा करत नित ही भक्तन को हम नेकहु न अचैहैं
सुनत श्रवन हरि-कथा सुधारस महाभक्त है जैहैं
कब इन दोउ नैनन सो निसदिन नीर निरंतर बहिहैं
हरीचंद श्री राधे-राधे कृष्ण-कृष्ण कब कहिहैं

आगे इन झूठन मोहिं भुलायो
कबहु जगत के कबहूँ स्वर्ग के स्वादन मोहिं ललचायो
भले होइ किन लोक-द्वैत की पाप-पुन्य दोउ बेरी
लोभ मूल परमारथ स्वारथ नामहि मैं कछु फेरी
इनमैं भूलि कृपानिधि तुमरो चरन कमल बिसरायो
तेहि सो भटकत फिरयो जगत मैं नाहक जनम गँवायो
हाय-हाय करि मोह लुब्धि तै कबहु न धीरज धारयो
या जग जगती जोग अगिनि मैं नाहकु दिन सब जारयो
अबहु कृपा करुनानिधि केशव जग ते आज छुड़ाईं
दीन जीन 'हरिचंद' दास को बेग लेहु अपनाई

सारे कृष्ण-काव्य, विशेषकर बाललीला, उद्धव-गोपी-सम्वाद, वेणु-गीत, वंशी, दान-लीला, सुरति खंडिता, गोपी का विरह, हिंडोल और होली के प्रसंगों में हम सूर का विस्तृत प्रभाव देखते हैं। बात यह है कि सूरदास में ही कृष्ण-काव्य हमें प्रौढ़तम रूप में मिलता है। आगे कवियों ने कृष्ण-कथा में चाहे अनेक नये प्रसंग जोड़े हों परन्तु जिन प्रसंगों पर सूरदास ने लेखनी चलाई है उनमें प्रवृत्त कवि आगे नहीं बढ़ सके। सूर के काव्य की इस प्रौढ़ता को हरिश्चन्द्र की प्रतिभा ने पहचाना था। उन्होंने सहज उदार भाव से सूरदास की प्रतिभा के आगे सिर झुका दिया और उनकी भाषा, शैली, शब्द-समूह, भाव-व्यंजना आदि सभी काव्य के उपकरणों का ऋण ओढ़ लिया, इससे उनका काव्य सरलता से ही सूरदास के काव्य की तरह ऊँची कोटि तक पहुँच गया। भारतेन्दु कृष्ण-काव्य की परम्परा के अंतिम छोर पर खड़े हैं,

इसी से वे अपने परवर्ती सारे काव्य का माधुर्य्य समेट सके हैं। पुष्टिमार्ग के अन्य कवियों की रचनाओं से भी उन्होंने होड़ ली है और ऐसे स्थलों पर भी वे अत्यंत उत्कृष्ट सिद्ध हुए हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने दीपमालिकोत्सव पर अनेक कविताएँ लिखी हैं। भारतेंदु की एक कविता इस प्रकार है —

कुंज महल रतन खंचित जगमग प्रतिबिम्बन अति सोभित ब्रजबाल रचित दीपमालिका। इक इक सत-गत लखात सो छवि बरनी न जात जोतिमई सोहत सुन्दर अटालिका॥ मानहु सितुपार चक्र उडुगन सह लसत गगन उदित मुदित पसरित दस दिसि उजालिका। मेट्यौ तम तोम तमकि बहु रवि इक साथ चमकि आनित इमि दीप करै कौन तालिका॥ सोरह सिंगार किए पीतम को ध्यान लिए, हाथ लिए मङ्गलमय कनक थालिका। गावत मिलि सरस गीत झलकत मुख परम प्रीत आइ मिलि पूजन प्रिय गोपबालिका॥ राधा हरि संग लसत प्रमुदित मन हेरि हँसत झुम मुख छवि छूट परत गौरव जालिका। हरीचन्द छवि निहार भाख्यौ त्यौहार चार, धनि धनि दीपावलि सब ब्रज-रसालिका॥

इसी श्रेणी की कविताएँ हमें पुष्टमार्ग के कवियों में मिलेंगी।

परंतु यह बात नहीं है कि हरिश्चंद्र का कृष्ण काव्य कहीं भी मौलिक न हो। इसी अध्याय में हम उनके तीन खंड-काव्यों (देवी छद्मलीला, रानी छद्मलीला और तन्मय लीला) का उल्लेख कर चुके हैं जिनकी कथावस्तु एकदम मौलिक है। इन मौलिक प्रसंगों के अतिरिक्त कवि ने राधा के जन्म, प्रम-विकास और कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव के बड़े सुन्दर और मौलिक वर्णन उपस्थित किये हैं। सूरदास ने राधा के जन्म आदि का वर्णन नहीं किया है। हरिश्चन्द्र ने इस अभाव को समझ कर सूरदास के कृष्ण-जन्मोत्सव के अनुकरण पर राधा का जन्मोत्सव लिखा है—

आज नन ग्वाल कोऊ नहि जाई
कहत पुकारि सुनो रे भैया कीरति कन्या आई
लावहु गाय सिंगारि बच्छन्ह सुवरन सींग मढ़ाई
गोरोचन सम्वतुल फूल धरि अँग अँग चित्र कराई
आज उदय भायौ राव गावहु गीत बधाई
हर्षानन्द वृषभानु जनायो बहुत निछावरि पाई

राधा का एक मौलिक रूप कवि इस प्रकार उपस्थित करता है—

आजु उठि भोर वृषभानु की नन्दिनी
फूल के महल तें निकसि ठाढ़ी भई
खसित मुख सीस तें ग्रंथित कुसुमावली
मधुप की मण्डली मत्त रँग ह्वै गई
कछुक अलसात सरसात सकुचात अति
फूल की वास चहुँओर मोदित छई
दास 'परमानन्द' छबि देखि गिरिधरलाल
पीत पट लकुट मुरि भूलि आनन्दमई

एक अन्य चित्र में वह राधा और कृष्ण को रथारूढ़ कराता है—

रथ चढ़ि नन्दलाल प्रिय करत हैं बन फेरा
आजु सखी लालन सँग बिहरिवे को बेरा
रतन-खचित सुन्दर रथ दिव्य बरन सोहै
कुँवरी दमिनि-कलश चक्र सुर-नर-मन मोहै
छाई घन घटा चारु आनन्द बरसावैं
प्रमुदित घनश्याम तहाँ राग मलार गावैं
अस जोरि राग नाहिं हरि अरु ब्रज-नारी
हाँकत रथ अपने हाथ राधा सुकुमारी
कुञ्ज-कुञ्ज केलि करत डोलत हरिराई
'हर्षचंद' जुगुल रूप लखि कै बलि जाई

इस प्रकार के छोटे-छोटे मौलिक अनेक उदाहरण भारतेन्दु के काव्य से लिये जा सकते हैं। राधा के अतिरिक्त उन्होंने चन्द्रावलि के कृष्ण-प्रेम के सम्बन्ध में भी कुछ पद लिखे हैं। जहाँ वे वियोग-काव्य की रचना करते हैं वहाँ उनकी स्वाभाविक प्रेममय प्रकृति के प्रकाशन का अच्छा मौक़ा मिलता है। नीचे के पद में जिस उदात्त प्रेम-भाव का चित्रण है वह सूरदास के काव्य में भी मिलना कठिन है—

अहो पिय पलकन पै धरि पाँव

ठीक दुपहरी तपत भूमि में नाँगे पद चल आव
करुना करि मेरो कह्यौ मानिकै धूपहिं में मति धाव
मुरझायो लागत मुख-पंकज चलत चहूँ दिसि दाव
जा पद को निज नैन अरु कर पै धरत करत सकुचाव
जाको कमला राखत है नित कर में करि करि चाव
जामें कली चुभत कुसुमन की कोमल अतिहि सुभाव
जो मम हृदय कमल में विहरत निसिदिन प्रेम-प्रभाव
सोइ कोमल चरनन सों हित धावत हौ ब्रजराव
'हरिचंद' ऐसी गत कीजे सह्यौ न जात बनाव

भारतेन्दु के जीवन-वृत्तान्त पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उनको ब्रजभूमि और उसके उत्सवों से कितना प्रेम था। उन्होंने स्वयं कई बार ब्रजभूमि की यात्रा की थी। इन यात्राओं में उन्होंने कृष्ण-लीला-भूमि को अत्यंत पास से देखा था। इसी से उन्होंने कई पदों में ब्रजभूमि के कृष्ण-उत्सवों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। उदाहरण के लिए हम दधिकाँदों उत्सव का एक पद उपस्थित करते हैं—

आजु दधिकाँदों है बरसाने

छिरकति गोपी-गोप सबै मिलि काहू का नहिं माने

आनन्दित घर की सुधि भूली हमको हैं नहिं जाने
दधि-घृत-दूध अड़ैले सिरसों फिरहिं अतिहि परमाने
यह आनन्द कापे कहि आवै भयौ जौन महराने
श्री वल्लभ-पद-पद्म कृपा सों हरीचंद कछु जाने

इस प्रकार के पद साम्प्रदायिक साहित्य के अंतर्गत रक्खे जायँगे परन्तु उनका शुद्ध साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों ने अपने समय के हर्ष, विषाद और उत्सव समारोह को अत्यंत निकट से देखा था और हृदय की सारी सहानुभूति देकर उन्हें साहित्य में प्रकाशित किया था। तीर्थों, पर्वों, उत्सवों और जन-समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में लिखे हुए निबन्ध भारतेंदु-युग की सुंदर देन हैं और आज भी पठनीय हैं। इन्हीं विषयों पर लिखी हुई कविताएँ भी उस युग के जन-समाज से हमारा सम्बन्ध जोड़ती हैं।

पदों के बाद जिन छंदों का भारतेन्दु ने सबसे अधिक प्रयोग किया है वे कवित्त और सवैये हैं। कवित्त और सवैयों में हरिश्चंद ने शृङ्गार ही अधिक लिखा है, चाहे उनमें राधा-कृष्ण का ही शृङ्गार हो जो भक्ति के माधुर्य के भीतर (मधुर भक्ति) आता है। हरिश्चंद के कवित्तों, सवैयों में निराली बात है—वह उदाहरण के रूप में नहीं हैं, अनूभूति से भरे हैं, और घनानन्द, रसखान की श्रेणी में आते हैं। भाषा शुद्ध ब्रज है, सूर की भाषा से मिलती-जुलती है। हरिश्चंद के भक्ति-काव्य से मालूम होता है कि उन्होंने इस भाषा का कितना गहरा अध्ययन किया था। इसी का प्रयोग कवित्त-सवैयों को चमका देता है। उनके कुछ कवित्त बड़े ही प्रसिद्ध हो गये हैं—

काले परे कोस चलि चलि थक गये पायँ, सुख के कसाले परे ताले परे नस्स के। रोम-रोम नैनन मैं हाले पर उगाले परे, मदन के पाले परे

प्रान परवस के। हरीचन्द अंग हूँ हवाले परे रोगन के, भोगन के भाले परे तन बल खरके। पगन में छाले परे, नांघिवे को नाले परे, तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।

इस प्रकार भाषा के बल पर उन्होंने शृङ्गार कवित्तों में नई जान डालने की चेष्टा की है—

१—नेक लगाय लुभाय तई पहिले ब्रज की सबहीं सुकुमारियाँ।
बेनु बजाय बुलाय रमाय हँसाय खिलाय करी गनुहारियाँ।
सो हरिचन्द जुदा ह्वै बसे बधिकै छलसों ब्रजबाल बिचारियाँ।
वाह जू प्रेम निबाह्यो भलो बलिहारियाँ लालनपै बलिहारियाँ।

२—एक ही गाँव में बरस सदा घर पास रहो नहीं जानती हैं।
पुनि पाँचएँ सातएँ आवत जात की आस न चित्त में आनती हैं।
हम कौन उपाय करैं इनको हरिचंद यहाँ हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखिया नहिं मानती हैं।

परंतु कहीं-कहीं भावों की एकांत नवीनता और अभिव्यंजना की शीघ्रता प्राचीन मधु को भी नई मृदुता दे देती है। जैसे —

रूप दिखाय के मौल लियो मन बालगुड़ी बहुरंगन जोरी।
चाहत मांझो दियो हरिचंद जू लै अपुने गुन की तापै लगाई पुछोरी।
प्रीति की चंग उमंग चढ़ाय कै सो हरि हाय बढ़ाय कै तोरी।
सिसुताई अजौ न गई तन तें तउ जोबन जोति बटोरै लगी।
सुनिकै चरचा हरिचन्द की कान कछूक है भौंह मरोरै लगी।
बचि ससुर जेठानिन सों पिय तें पियूस निचोरै लगी॥

यद्यपि पिछले शृंगारिक कवियों की जहाँ-तहाँ झलक स्पष्ट है। हरिचंद में मौलिकता का बहुत आग्रह हम नहीं पाते। वे सबको समेटकर, अपना कर, चलनेवाले व्यक्ति थे।

हम पहले बता आये हैं कि भारतेंदु ने जनता के साहित्य के निर्माण के लिए अपील की थी। जनता के साहित्य से उनका

तात्पर्य क्या था यह उन्होंने उस अपील में स्पष्ट कर दिया है। ठुमरी, लावनी, गजल, ख्याल नौटंकी के गाने और सामाजिक आहार-व्यवहार और उत्सवों पर गाये जानेवाले साहित्य को ही उन्होंने जनता का साहित्य कहा है। परन्तु भारतेन्दु अपने समय के साहित्य के पैग़म्बर ही न थे, उसके योग्य सिपाही भी थे जो स्वयं शस्त्र चलाना जानते थे। उन्होंने इन सभी शैलियों में स्वयं रचना की और अन्य साहित्यकारों को ऐसी रचनाओं के लिए उत्साहित किया। इस जन-शैली में वे कहाँ तक सफल हुए हैं इसका अन्दाज़ इस बन्ने से लग सकता है। हमारे घरों में विवाह के अवसर पर बन्ना गाया जाता है। भारतेंदु ने अपने बन्ने में यह विशेषता रख दी है कि उसके नायक श्रीकृष्ण (श्याम) हैं.—

बना मेरा ब्याहन आया बे
बना मेरा मन सब भाया बे
बना मेरा छैली छबीला बे
बना मेरा रंग रँगीला बे

बनरा रँगीला रँगन मेरा भवन के इत आवना
सुन्दर सलौना परम लोना स्याम रंग सुहावना
अति चतुर चंचल चारु चितवन जुवति चित्त चुरावना
ब्याहन चला रँगा सरला जसुमति लला मन भावना

बना के मुख मरवट सोहै बे
बना देखत मन मोहै बे
बना गिरधरिया आया बे
बना लखि मोहत काया बे

लखि काम मोहैं स्याम छवि पर लसत सुन्दर सेहरा
सिर जरकसी चीरा झुकाए खुला तिस पर सेहरा

जुरि आए फाके मस्त होली होय रही
घर में भूंजी भांग नहीं है तो भी न हिम्मत पस्त
होली होय रही
महंगी परी न पानी बरसा अजौ नाहीं सस्त
धन सब गया अकिल नहिं आई तो भी मञ्जल मस्त
होली होय रही
पराम कापर कूर आभागी आवैं पेट परस्त
सूझत कुछ न बसन्त मांहि वो भे खराब औ खस्त
होली होय रही

सच तो यह है कि हम भारतेन्दु को केवल साहित्यकार मानकर उनके साथ अन्याय करते हैं। वास्तव में वे युग-नेता थे। उनका साहित्य उनके नेतृत्व का एक रूप है। उस युग के समाचार पत्रों, व्याख्यानों, सभाओं, गोष्ठियों और विभिन्न क्षेत्रों में काम करने-वाले नेताओं पर उनके प्रभाव का अध्ययन करने से ही उनके व्यापक नेतृत्व का पता चल सकेगा। हिंदी प्रदेश के नेताओं में उनका वही स्थान होना चाहिए जो बंगाल में राजा राममोहन राय को प्राप्त है। उनका साहित्य उनके प्रगतिशील नेतृत्व का एक अंग मात्र है। अपने समय की कुरीतियों पर जैसी तीव्र दृष्टि उनकी पड़ी है, वैसी तीव्र दृष्टि और उन जैसा उदारतापूर्वक समीकरण भाव राय महोदय में भी नहीं मिलता। चौबीस वर्ष की छोटी उम्र में उन्होंने काली के आगे पितृपक्ष में बलि के विरोध के प्रकाशन के लिए 'बकरी विलाप' व्यंग्य काव्य की रचना की। इसी समय के लगभग उनके 'जैन कुतूहल' नामक ग्रंथ से हमें उस समय के धार्मिक वितंडावाद और तर्क-वितर्क के विरोध में उनके प्रेम-मार्ग का क्रान्तिकारी संदेश मिलता है। वे कहते हैं—

खंडन जग में काको कीजै
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा।उत्तर दीजै

नियारो पैये केवल प्रेम में

नाहि ज्ञान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम कुल नेम में
नाहि भारत पे नहि रामायन नहिं मनु पे नहि बेद में
नहिं झगरे में नहिं युक्ति में नहि मतन के भेद में
नहिं मंदिर में नहिं पूजा में नहिं घंटा की भार में
'हरीचंद' वह बांध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में

भारतेन्दु ने काव्य की प्राचीन, समसामयिक, नवीन (मौलिक) अनेक काव्य शैलियों का प्रयोग किया है। उनका अधिकांश भक्ति-साहित्य पदों में है। सूरदास और अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने जितने प्रकार के पद कहे हैं, वह सब उनके भक्ति साहित्य में मिलते हैं। जैसे—

१—ब्रज के लता-पता मोहि कीजै।

२—आजु श्री राधिका प्रानपति काज निज राग सों कुञ्ज में कुसुम सज्जा सजी।

३—फबी छबि थोरे ही सिंगार।

४—तुम बिनु दुखित राधिका प्यारी
तुम मम यह तन सुरति बिसारी

५—कवित्त-सवैये।

६—कुण्डलियाँ (उत्तरार्ध भक्तमाल, इत्यादि)।

७—तुलसी की स्तोत्र-शैली।

हरिदास की गिरिराज धन धान्य सारी राम घनश्याम करे केलि जाँ के स्पर्श सों पुलकि रोमांच भयो सोई सब वृक्ष अरु लता ताँ

८—दोहा।

परन्तु उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने जनता में प्रचलित काव्य-शैलियों को आँखों की ओट नहीं किया है। उनकी अधी-

बोली कविता अधिकांश में काव्य-शैलियों में ही है। वह समय खड़ीबोली-काव्य के प्रयोगों का है। इस तरह हम काव्य में नए तत्त्वों का प्रयोग पाते हैं :

(१) गजल-शैली (उर्दू शैली)—वे 'रसा' नाम से तखल्लुस करते थे और अपने घर पर मुशायरा करते थे।

(२) लावनी

बीत चली सब रात न आये अब तक दिलजानी
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा पानी
अँधेरी छाय रही भारी
सूझत कहूँ न पंथ सोच करै मन मन में नारी
न कोई समझावत नारी
चौंकि चौंकि के उझकि झरोखा झाँक रही बारी
बिरह में व्याकुल अकुलाती
खड़ी अकेली राह देखती बरस रहा पानी
सूझै पंथ न कहीं हाथ में हाथ न दिखलाता
एक रंग धरती अकास का कहा नहीं जाता
किसी का बोल नहीं सुहाता
बूँद पड़ै टप-टप मारग कोई नहिं आता जाता
सोये घर-घर सब पट तानी ॥ खड़ी अकेली०॥

उन्होंने संस्कृत लावनी भी लिखी है।

(३) मुकरी (नये जमाने की मुकरी, १८८४)

(४) हिन्दी गजल—भारतेन्दु से पहले कबीर और अन्य संत कवियों ने भी इसी शैली का प्रयोग किया है। भारतेन्दु स्वयं उर्दू के कवि थे; इसलिए इस शैली की ओर उनका ध्यान जाना अनिवार्य था।

भारतेन्दु की गजल का नमूना इस प्रकार है—

वह अपनी नाथ दयालुता तुम्हें याद हो कि न याद हो
वह जो कौल भक्तों से किया तुम्हें याद हो कि न याद हो

(५) संत-काव्य की शैलियाँ—

(क) मृत्यु नगाड़ा बाजि रहा है सुन रे तू गाफिल तू मन छन
गगन शुन्न भरि पूरि रहा गम्भीर नाद अनहद धन-धन
उनमनि पहिले से बजता था बजता है और बाजेगा
इसी शब्द में गुन ले होंगे सदा एक यह राजेगा

(ख) यारो इक दिन मौत जरूर
फिर क्यों इतने गाफिल होकर बने नशे में चूर
यही चुड़ैलें तुम्हें खायेंगी जिन्हें समझते हूर
माया-मोह गले की फाँसी इससे भागो दूर

इन शैलियों के अतिरिक्त प्रचलित लोक-गीत भी मिलते हैं—

मेरे प्यारे सों सँदेसवा कौन कहै जाय
उर की बेदन हरे मीठे बचन सुनाय
कोउ सखी देइ मोरी पाती पहुँचाय
जाइ कै बुलाय लावै बहुत मनाय
मिलि 'हरीचंद' मेरा जियरा जुड़ाय

ख्याल, ठुमरी आदि की शैलियाँ भी उन्हें प्रिय हैं—

ठुमरी—पियारे सैंया कौने देस रहे रूसि जोबना को सब रंग चूसि
'हरीचंद' भये निठुर श्याम अब पहिले तो मन मूसि, इत्यादि

खेमटा—अब ना आओ पिया मोरी सेजरिया
जात बिदेस छोड़ि तुम हमको हनि-हनि हिय में बिरह कटरिया

रेखता—मोहन पिय प्यारे टुक मेरे ढिग आव
वारी गई सूरत के बदन तो दिखाव

संगीत की धुन—'जैसे मोरि तो जीवन राधे' की चाल पर—मोहन
दरस दिखा जा, इत्यादि ।

'प्रेम-तरंग' (१८७७) में लगभग सभी रागों और संगीत शैलियों में रचनाएँ मिलेंगी।

इनके साथ से हम उनकी बंगला, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी कविताओं से भी परिचित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु सजीव कविता थे। उन्होंने प्राचीन समसामयिक और नवीन सब शैलियों का प्रयोग किया है। अनेक भाषाओं में अनेक शैलियों के सफल प्रयोग उनकी सजीवता और प्रतिभा की परिचायक हैं। वे कृष्ण-भक्ति-परम्परा के अंतिम महान् कवि हैं। डेढ़-दो सहस्र भक्ति-पदों की रचना उन्होंने की है और राधा कृष्ण कथा का अपने ढङ्ग पर विकास किया है। लौकिक शृङ्गार और प्रेम-विरह सम्बन्धी उनकी कविता रीति-कवियों की उत्तमोत्तम रचनाओं से टक्कर ले सकती है। भाषा की शुद्धता और भावना की स्वाभाविक अभिव्यंजना के नाते वे घनानंद और बोधा की श्रेणी में आते हैं। खड़ीबोली कविता के तो प्रवर्तक ही हैं। इस प्रकार की युग की विभिन्न धाराओं को समेट लेने वाली प्रतिभा साहित्य के इतिहास में सदा विरल रहती है। प्राचीन और वर्तमान काल की युग-संधि पर खड़े भारतेन्दु में हमें इस प्रकार की प्रतिभा के दर्शन प्रचुर मात्रा में होते हैं। यहाँ तक उन्होंने चित्र-काव्य और कूट-काव्य भी लिख दिया है। (देखिए मनोमुकुलमाला, १८७७)

और उन्होंने संस्कृत में लावनी, स्तोत्र, प्रशस्ति आदि भी लिखीं। प्रातसमीरन (१८७४) में उन्होंने "पमार" छंद का प्रयोगकर अपनी प्रयोगात्मक प्रगति का प्रकाशन किया है।

भारतेन्दु की 'रामलीला' खंड-काव्य का एक नया प्रयोग है। इसे 'मिश्रित काव्य' कहा गया है अर्थात् इसका कुछ भाग गद्य में है, कुछ पद्य में है। सारी रचना आजकल के रेडियो-फीचर से

मिलती जुलता है। गद्य में कथा का विकास किया जाता है, आगे की बातें बताई जाती हैं और भावात्मक स्थान आते हों—एक, दो, या तीन छंद रख दिये जाते हैं। इसके बाद फिर गद्य में कथा-सूत्र को आगे बढ़ाया जाता है। फिर कविता, फिर गद्य। इस प्रकार एक नवीन प्रकार की गद्यशैली की सृष्टि होती है जिसमें सरस पद गद्य-कथा में गुम्फित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार की मिश्रित शैली का यह एक ही उदाहरण है। शोक है, इस प्रकार की शैली को न ग्रहण किया गया, न विकसित। परंतु जनता तक पहुँचने के लिए नाटकीय तत्त्वों और कथा का समावेश करते हुए काव्य की यह शैली बड़ी महत्वपूर्ण और रोचक है। वास्तव में जैसे व्याख्यान, रंगमञ्च, पत्र आदि से, वैसी ही भारतेंदु ने कविता द्वारा भी जनता तक पहुँचने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार की चेष्टा इस बात में स्पष्ट है कि उन्होंने लोक-गीतों, संगीत, नौटंकी, लोक-संगीत (धुन) आदि में रचना की और हेमचंद्र की इन कविताओं से प्रभावित हो उन्होंने श्रेष्ठ उद्बोधन (जातीय) काव्य की रचना की जिसमें सिपाहियों का मार्च, कोरस, समूह-गीत आदि का समावेश है।

भारतेन्दु की कवि-प्रतिभा दो और बातों से अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है। एक तो उनकी समस्यापूर्तियों में, दूसरी अनुवादों में। वह आशु कवि थे, एक ही समस्या पर अत्यन्त शीघ्रता से कितने ही पद लिख कर सुना सकते थे; परंतु जहाँ अधिकांश समस्यापूर्तियाँ तुकबंदी-मात्र होती हैं वहाँ यह समस्यापूर्तियाँ भावपूर्ण सुन्दर कविताएँ हैं। 'स्फुट समस्या' में "कान्ह कान्ह गोहरावति हो" समस्या पर (१८७४) की एक दर्जन पूर्तियाँ हैं। इन समस्यापूर्तियों में भी भारतेन्दु कहीं-कहीं नवीन भूमि पर दिखलाई पड़ते हैं—

भोज मरे अरु विक्रमहू जिनको अब रोई के काव्य सुनाइये
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइये
राजा भये सब स्वारथ दीन अमीरहू हीन किन्हैं दरसाइये
नाहक देनी समस्या अबै यह "ग्रीषमैं प्यारे हिमन्त बनाइये"

'प्रेमभाव' में भी कहीं-कहीं आश्चर्यजनक भावनाओं के कारण विचित्रता आ गई, जैसे "रोम पोप रूस फूस है" की समस्या-पूर्ति में—

हबसी गुलाम भये देखि कर केस तेरे
चीनी लखि गालन को कोस फनूस है
मिसरी सुनत मीठे बोल बिना दाम बिके
तन की सुबास रहे मलय मसूस है
फरासीसी मद्यसांसी, डारि मतवारे भए
नैन पेखि काफरी ह्वै होइ रहे हूस है
बरमा हिये में काम धरमा चलायो प्यारी
तेरे रूप आगे रोम पोप रूस फूस है

भारतेन्दु के समय में हिन्दी कविता राज-दरबारों से निकल कर सहृदय अमीरों की गोष्ठियों, कवि-सभाओं और क्लबों के प्लेटफार्म पर कवि सम्मेलन के रूप में आने लगी थी। उनके बाद इस परम्परा का विशेष विकास हुआ और कवि-सम्मेलन आज भी ऐसे स्थल हैं जिनमें कवि जनता के सीधे सम्पर्क में आता है। इससे कई नवीनताओं का प्रवेश हुआ।

(अ) "समस्यापूर्तियों" का पुस्तकाकार प्रकाशन।

(ब) "पूर्ति-पत्र"।

(स) कविता में चमत्कार, अलंकारादि, बाह्य गुणों पर विशेष जोर (जो जनसाधारण को आकर्षित कर सकें)।

(क) परिहास और सामयिक विषयों पर कविता को प्रश्रय।

(ख) भक्ति, शृङ्गार और संसार की नश्वरता के कवित्त सवैये जिनमें परम्परा का पालनमात्र था, नवीनता नहीं।

हाँ, खड़ीबोली के कवित्तों सवैयों का विशेष प्रचार हुआ और आगे के युग में इनका हिन्दी कविता के विकास में विशेष स्थान है। इन सहस्रों कवि-सम्मेलनों और समस्यापूर्तियों ने ही खड़ीबोली के पद्य को परिमार्जित किया और अंत में खड़ीबोली अधिक समझा जाने के कारण उसके आगे ब्रज भाषा को झुकना पड़ा है। भारतेन्दु ने ही विशेष रूप से कवि-सम्मेलनों और समस्यापूर्तियों के प्रकाशन की प्रथा चलाई। अगले युग का बहुत-सा काव्य इन रूपों में सामने आता है। उससे पहले राजदरबारों में समस्या-पूर्ति प्रतिष्ठित अवश्य थी, परन्तु उसे विशेष प्रतिद्वन्द्विता का सामना अब करना पड़ा।

संस्कृत से अनुवाद के रूप में हमें जयदेव के कुछ पद मिलते हैं, इनकी विशेषता यह है कि यह अनुवाद जरा भी नहीं लगते हैं। उदाहरण के लिए हम जयदेव के मंगलाचरण का अनुवाद उपस्थित कर सकते हैं—

मेघन तें नभ छाय रहे, बन भूमि तमालन सों भई कारी
साँझ समै डरिहै, घर माँहि कृपा करिकै पहुँचावहु प्यारी
यों सुनि नंद-निदेश चले दोउ कुञ्जन में वृषभानु दुलारी
सोइ कालिंदी के कूल इकंत की केलि हरे भव भीति हमारी

अन्य पदों में वे और भी अधिक सफल हैं। इनसे उनकी अलौकिक काव्य-प्रतिभा पर प्रकाश पड़ता है। मूल से अपरिचित पाठक को अनुवाद का जरा भी ध्यान नहीं होगा।

४

भारतेन्दु की सामयिक और राष्ट्रीय कविता

तुलसीदास और बनारसीदास (१६४३) की कुछ कविताओं को छोड़कर अधिकांश कवियों की कविताओं में सामयिक घटनाओं और परिस्थितियों के चित्र नहीं मिलते। सच तो यह कि हमारे कवियों और साहित्यकारों ने सदा ही सामयिक जीवन की उपेक्षा की है। इसका कारण यह रहा है कि हमारा अधिकांश साहित्य धर्म-चेतना या काव्य-परम्परा से प्रवाहित रहा है। एक ओर सिद्धों, नाथों और संतों का काव्य है, दूसरी ओर रामकृष्ण भक्त कवियों का। यह दोनों ही वैराग्यमूलक हैं। अतः इनमें इधर-उधर कुछ उक्तियों को छोड़कर सामयिक जीवन के नाम पर कुछ भी नहीं मिलता। रीति-काल के कवियों ने जीवन को साहित्य के माध्यम से देखा; अतः सामयिक जीवन की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। वे केवल प्रशस्ति काव्यों तक ही सीमित रहे जिनमें अतिशयोक्ति की ही प्रधानता थी।

यह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के काव्य की विशेषता है कि उसमें परम्परागत साहित्य-धाराओं पर रचना होने के साथ-साथ एक कई प्रकार की कविताओं का भी श्रीगणेश हुआ।

(१) जनकविता—जनगीतों के अनुकरण में लिखी कविता।

(२) सामयिक कविता—सामयिक जीवन और मनोवृत्ति पर प्रकाश डालने वाली कविताएँ।

(३) राष्ट्रीय कविता—देशभक्ति से अनुप्राणित कविताएँ, जिनमें देश-दुर्दशा पर रुदन किया गया है और उत्साहप्रद

जागरण गीत गाये हैं। साथ ही इतिहास के पुराने गौरवशाली पृष्ठ भी कविता के लिए उलटे गये हैं।

इन तीनों श्रेणियों की कविता की कोई परम्परा न थी। इससे उनके जन्मदाताओं को और भी अधिक श्रेय मिलना चाहिए। काव्य की पुरानी धाराओं के समकक्ष इन नवीन धाराओं की प्रतिष्ठा सरल काम नहीं था। जहाँ प्राचीन काव्य के मूल में पलायन की प्रवृत्ति है, वहाँ यह नवीन काव्य अपने समय के सारे जीवन को समेट कर चला है और उसने काव्य की भाषा, प्रतीक, शैली, विषय सभी में क्रान्ति उपस्थित की है। इस नये काव्य के आदि कवि और नेता भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) थे।

मई १८७९ की 'कविवचनसुधा' में भारतेन्दु ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी। उसमें उन्होंने सामयिक जीवन के कई पहलुओं पर कविता रचने के लिए कवियों को निमंत्रित किया है। वे लिखते हैं—

"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किन्तु वे जन-साधारण के दृष्टि-गोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में, साधारण लोगों में प्रचार की जायँ, यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम-गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।"

आगे चलकर उन्होंने इन ग्राम-गीतों के विषय भी दिये हैं—

बालविवाह से हानि, जन्मपत्र मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, अंगरेजी फैशन से शराब की आदत, भ्रूण हत्या, फूट और बैर, बहुजातित्व और बहुभक्तित्व, जन्मभूमि से स्नेह और उसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन, स्वदेशी—हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दुस्तानियों को व्यवहार करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन—आदि।

भारतेन्दु क्रान्तिद्रष्टा थे। उनका जन्म उस सुधारक युग में हुआ था जब कुरीतियों के परिहार की बात प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति के रोम-रोम में व्याप्त हो रही थी। उनकी दृष्टि देश के उस भाग पर गई जिस पर देश की उन्नति का श्रेय था। वह भाग था ग्रामीण जनता का। उस पर केवल "लोकगीत" द्वारा पहुँचा जा सकता है। शृङ्गार और हास्य के गीत तो प्रचलित ही थे। भारतेन्दु की इस विज्ञप्ति से पता चलता है कि वे शृङ्गार और हास्य को भी कविता का विषय बनाना चाहते थे। जिससे ग्रामीणों का मनोरंजन हो सके, और कुनैन की कड़वी गोलियों पर 'मीठा' चढ़ जाये। परन्तु शिक्षा और समाज-सुधार उनका लक्ष्य था। उन्होंने समाज तक ही अपनी दृष्टि को सीमित नहीं किया था—स्वदेशी, अदालत, स्वदेश, जन्मभूमि सुधारने की आवश्यकता राष्ट्रीय और राजनैतिक विषय थे। इस प्रकार उन्होंने जीवन के समस्त क्षेत्रों पर दृष्टि दौड़ाई थी। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन विशेष लक्ष्य थे।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद कम्पनी की निरकुंशता और स्वेच्छाचारी शासन का अन्त हुआ और शासनसूत्र महारानी विक्टोरिया के हाथ आया। इस वर्ष के अंत में गङ्गा-जमुना के संगम (प्रयाग) परमहारानी का घोषणा-पत्र पढ़ा गया

जिसमें आश्वासन दिया गया कि लोगों के धर्म पर किसी प्रकार का आघात नहीं किया जायगा। इस सहृदयतापूर्ण घोषणा पत्र ने लोगों के हृदय में कृतज्ञता के भाव भर दिये और उनकी वाणी गद्‌गद् होकर कवियों के कंठ से फूट निकली। १८६९ तक लोग महारानी के राज को रामराज्य समझते रहे। विद्रोह के बाद किसानों के लिए बन्दोबस्त हुआ। उसमें इतना ऊँचा लगान कूता गया कि कृषकों के पास उसे देने के बाद कुछ भी नहीं बचता था। दैवयोग से १८६६ में अकाल पड़ा। इसमें २० लाख के लगभग जन-हानि हुई। लोग आश्चर्य से आकाश तकने लगे—यह कैसा रामराज्य! कवि लोग समझते थे कि अधिकारियों से प्रार्थना करने पर सब कुछ हो जायगा, परन्तु यहाँ जरा भी सुनवाई नहीं हुई। इससे लोगों के मन में पहली बार विदेशी सरकार की छलना का उदय हुआ। अब तक हमारे कवियों ने राजभक्ति और देशभक्ति को साम्यवाची माना था, अब उनकी रचनाओं में राजभक्ति और देशभक्ति का द्वन्द्व चलने लगा। १८६६ में मंदी का जमाना आया और १८६८-१८६६ में फिर अकाल पड़ा।

इन सब सामयिक घटनाओं का प्रतिबिम्ब सामयिक साहित्य में मिलता है। अब तक लोग अमर साहित्य की ही रचना करते थे, परन्तु अब ऐसा साहित्य भी रचा जाने लगा जिसका उद्देश्य उपयोगिता था। 'पत्र' इस साहित्य के प्रकाशन के प्रधान साधन थे। अब तक प्रतिदिन की घटनाओं की आलोचना करने के लिए कवियों के पास कोई साधन न था। अब एक प्रभावशाली साधन हाथ लग गया था। इसलिए बहुत कुछ सामयिक कविता पत्रों में प्रतिदिन प्रकाशित हुई। इस प्रकार की कविता का उर्दू-पत्र साहित्य में अभाव है। इससे हिन्दी की समयानुकूलता, युग-परिवर्तन-क्षमता और महानता स्पष्ट है। भारतेन्दु उन लोगों में

थे जिन्होंने इस सामयिक कविता का निर्माण किया, इसके लिए आन्दोलन किया, इस प्रकार की रचनाओं को प्रकाशित करके कवियों को प्रोत्साहित किया। उन्होंने सामयिक जीवन के प्रति संदेह की दृष्टि डाली, उसमें असंतोष प्रकट किया और जनता के शताब्दी के कुसंस्कारों के विरुद्ध मोर्चा लिया। उनकी कविता में उनके युग के गद्य के सभी उपादान मिलते हैं और उन्होंने गद्य की भांति उनका प्रयोग किया है। पिछले कवियों की भांति भारतेन्दु और उनकी मंडली के कवियों ने अपने चारों ओर के जीवन से आंखें नहीं मूँदी थीं, न नायिका-भेद से उसे संकुचित ही किया है। भारतेन्दु ने ११ वर्ष की अवस्था में जगन्नाथ की यात्रा की थी और "तहक़ीक़ात पुरी की तहक़ीक़ात" लिखकर इतनी छोटी आयु में भी अपनी जिज्ञासु, प्राचीनता के प्रति संशयालु और बलवती प्रकृति का परिचय दिया था। १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने सारे उत्तर भारत की यात्रा कर डाली थी। इन यात्राओं में उन्हें देश की भयंकर निर्धनता, भीषण परम्परा-प्रियता का परिचय मिला। उनके नागरिक संस्कार उन्हें व्यंग्य लगे। उन्होंने देखा कि गांवों की संस्कृति को साहित्य का रूप देकर ही वह नागरिकों की सेवा कर सकते हैं। बाद की परिस्थितियों ने भी लोगों का ध्यान गाँवों की ओर किया। जनता की भाषा, जनता का रोष, जनता का व्यंग—उस युग की कविता में सजीव हो उठे हैं।

भारतेन्दु ने कितनी ही ऐसी कविताएँ लिखी हैं जो उन्हें राजभक्त के रूप में प्रगट करती हैं, जैसे विक्टोरिया के पति की मृत्यु पर स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अंतर्लापिका (१८६१), ड्यूक ऑव एडिनबरा के १८६६ में भारतागमन के अवसर पर श्री राजकुमार-सुस्वागत-पत्र, सन् १८६६ उनके काशी में आने के अवसर पर कवित्त (१० मार्च, १८७०), सन् १८७१ ई० के

नवम्बर में टायफॉयड (विषमज्वर) के कारण श्रीमान प्रिंस आफ़ वेल्स के पीड़ित होने पर कवित्त (१८७१)। सन् १८७५ ई० में युवराज प्रिंस आफ़ वेल्स (एडवर्ड सप्तम) के भारत में आगमन पर लिखी गई "राजकुमार शुभागमन वर्णन" (१८७५), मानसोपासन (१ जनवरी १८७७)। परन्तु अंतिम कविताओं में यद्यपि उनकी राजभक्ति वैसी ही बनी है, वे स्थानीय कर्मचारियों से क्षुब्ध हैं, 'मानसोपासन' में उन्होंने लिखा है—"प्रिय, हम सब स्वभाव-सिद्ध राजभक्त हैं। बेचारे छोटे पद के अंगरेजों को हमारे चित्त की क्या खबर है, अपनी ही तीन छटाँक पकाना जानते हैं। अतएव दोनों प्रजा एकरस नहीं हो जाता; आप दूर बसे, हमारा जी कोई देखने वाला नहीं, बस छुट्टी हुई। आपके आगमन के केवल स्मरण से हृदय गद्‌गद् और नेत्र अश्रुपूर्ण हमीं लोगों के हो जाते हैं और सहज में आप पर प्राण न्योछावर करने वाले हमीं लोग हैं, क्योंकि राजभक्ति भारत खंड की मिट्टी का सहज गुण और कर्तव्य धर्म है, पर कोई कलेजा खोल कर देखनेवाला नहीं।" १८७५ में भारतेन्दु ने 'भारतशिक्षा' कविता लिखी है जिसमें राजकुमार का स्वागत है। कविता हेमचन्द्र बनर्जी की कविता की छाया लेकर लिखी गई है। इसमें "भारत जननी" अकुलाकर आँसुओं से भीगती आती है और शोक प्रगट करती हैं। कविता के अंत में—

बजे बृटिश डंका सघन गह गह शब्द अपार
जयरानी विक्टोरिया जो जुग राजकुमार

गर्वपूर्ण ढङ्ग से लिखा गया है। १८७८ ई० में अफ़गान युद्ध छिड़ने पर इस कविता के कुछ पद लेकर और बहुत से और पद मिलाकर 'भारत वीरत्व' की रचना हुई—कवि गर्व से "भारत-सैन पयान" की बात कहता है और ब्रिटिश राज्य की प्रशस्ति में लिखता है—

जासु राज सुख बस्यौ सदा भारत भय त्यागी
जासु बुद्धि नित प्रजा-पुंज-रंजन मँह पागी
जो न प्रजा-तिय सपनेहुँ चिता चलावैं
जो न प्रजा के कर्म्महिं हठ करि कबहुँ नसावैं
बाँधि सेतु जिन सुरत किए दुस्तर नद-नारे
रची सड़क बेधड़क पथिक हित सुख विस्तारे
ग्राम ग्राम प्रति पाहरू दिए बिठाई
जिनके भय सों चोरवृन्द सब रहे दुराई
नृप-कुल-दत्तक-प्रथा कृपा करि निज थिर राखी
भूमि कोष को लोभ तज्यौ जिन जग को साखी
करि बारह-कानून अनेकन कुलहि बचाओ
विद्या-दान महान नगर प्रति नगर चलायो
सब ही विधि हित कियौ विविध विधि नीति सिखाई
अभय बाँह की छाँह सबहिं सुख दिय सो आई
जिनके राज अनेक भाँति सुख किए सदाहीं
समर-भूमि तिन सो छिपनो कछु उत्तम नाहीं

१८८१ में अफ़गान-युद्ध की समाप्ति पर उन्होंने 'विजयवल्लरी' कविता लिखी और मिश्र-युद्ध की समाप्ति पर अगले वर्ष (१८८२) विजयिनी विजय-पताका या वैजयंती। विजयवल्लरी में कवि तोपों के उल्लास पर कहता है—

कहा भूमिकर उठि गयौ कै टिक्कस भो माफ
जन साधारन को भयौं किधौं सिविल पंथ साफ
नाटक अरु उपदेस पुनि समाचार के पत्र
कारागार भए कहा जो अनन्द अति अत्र

कविता के अंत में असन्तोष स्पष्ट है—

भारत कोष विनास कों हिय अति ही अकुलाय
ईति भीति दुरकाल सों पीड़ित कर को सोग

ताहू पै धन नास को यह बिनु काज कुयोग
स्ट्रेची डिज़रैली लिटन चितय नीति के जाल
फँसि भारत जर जर भयो काबुल युद्ध अकाल
सबहिं भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी लोक
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ को रोक
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक
भारत राज मँझार जौ कहुँ काबुलि मिलि जाइ
जज्ज कलक्टर होइ हैं हिन्द नहिं तिह धाइ
ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित हीन
तासों काबुल-युद्ध सों ये जिय सदा प्रवीन

सन् १८००-१८८४ में भारत के लाट मारकिस ऑव रिपन के समय में वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट (१८८०) तोड़ा गया, मैसूर का राज्य प्राचीन राजवंश को सौंपा गया (१८८१), अफ़गान-युद्ध इन्हीं के समय में समाप्त हुआ, और इलबर्ट बिल एवं स्थानीय स्वराज्य सम्बन्धी ऐक्ट कायम हुए। इनके शासन को 'रिपनाष्टक' (१८८४) लिखकर भारतेन्दु ने श्रद्धांजलि दी। परंतु यह स्पष्ट है कि वे अंत समय अंग्रेजी राजनीति की शतरंजी चालों को समझ गये हैं। 'नए ज़माने की मुकरी' (१८८४) में उन्होंने लिखा है—

भीतर भीतर सब रस चूसै,
हंसि हंसि के तन मन धन मूसै
ज़ाहिर बतिन में अति तेज
क्यों सखि साजन ना अँग्रेज़
नई नई नित तान सुनावै
अपने जाल में जगत फँसावै
नित नित हमैं करै बल सून
क्यों सखि साजन नहिं कानून

इनकी उनकी खिदमत करो
रुपया देते देते मरो
तब आवै मोहि करन खराब
क्यों सखि साजन नहीं खिताब
धन लेकर कुछ काम न आवै
ऊँची नीची राह दिखावै
समय पड़े पर साधे गुंगी
क्यों सखि साजन नहिं सखि चुंगी
मतलब ही की बोलै बात
राखै सदा काम की घात
डोलै पहिने सुंदर समला
क्यों सखि साजन नहिं सखि अमला

जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, भारतेन्दु के काव्य में उत्कृष्ट देश-भक्ति और सच्ची राष्ट्रीयता की झलक मिलती है। लोग यह भूल गये हैं कि राष्ट्रीयता के मूल प्रवर्तकों में उनका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने भारत के पिछले इतिहास को पहली बार कवि के रूप में देखा है। जयचंद के प्रति कहते हैं -

काहे तू चौका लगाय जयचंदवा
अपने स्वारथ भूलि लुभाए काहे चोरी करवा बुलाए जयचंदवा
अपने हाथ से अपने कुलकै काहे तैं जड़वा कटाए जयचंदवा
फूट कै फल सब भारत बोय बैरी के राह खुलाए जयचंदवा
और नासि तैं आपौ बिलाने निज मुख कजरी पुताय जयचंदवा
(वर्षा-विनोद ४०)

सोमनाथ (महादेव) के मन्दिर टूटने के समय गौरा (पार्वती का उद्बोधन) और हिन्दुओं की कम-हिम्मती देखिए—

टूटै सोमनाथ के मन्दिर, केहू लागै न गोहार
दौरौ दौरौ हिन्दू हो राम गौरा करै पुकार

की केहू हिन्दू कै जनमत नाहीं नी जनि गैतें क्यार
की सब आज धरम तजि दिहलैं येहैं तुरुक सबै इकबार
केहू लगत गोहार न गौरा रोयें जार बेजार
अब जग हिंदू केहू नाहीं भूले नामैं के बेवहार (वही, ५१)

परन्तु वह प्राचीन गौरवगाथा भी नहीं भूले हैं—

धन धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस धुजा फहराय
मारि मारि के सत्रु दिए हैं लखन बेर भगाय
महानन्द की फौज सुनत ही डरे सिकंदर राय
राजा चन्द्रगुप्त ले आए बेटी सिल्यूकस की जाय
मारि सलूसिन विक्रम रहे शककारी पदवी पाय
बापा कासिम तनय मुहम्मद जीत्यौ सिन्धु दियो उलटाय
आयो मामू चढ़ि हिन्दुन पै चौबिस बेरा सैन सजाय
खुम्मान राय तेहि आप मार लगि मन निज दियो हराय
लाहौर राजा जयपाल कथ्यो चढ़ि खुरासान पर धाय
दिनो प्रान आनन्दपाल पर छोड्यो देस धरम नहिं जाय
(वही, ५१)

स्वयं अपने समय में पूर्वी-पश्चिमी सभ्यता के संघात को उन्होंने भली भांति पहचाना था—

भारत में एहि समय भई है, सब कुछ बिनहिं प्रमान हो दुइरंगी। आधे पुराने पुरानहिं मान, आधे भए किरिस्तान हो दुइरंगी॥ क्या तो गदहा को चना चढ़ावै, कि होइ दयानंद जाय हो दुइरंगी॥ क्या तो पढ़ै कैथी को कितलिसै कि कोइ बरिस्टर धाय हो दुइरंगी॥ एही से भारत नाम भया, सब जहाँ यही हाल हो दुइरंगी। होउ एकमत भाई सबै अब, छोड़हु चाल कुचाल हो दुइरंगी। (वही, ४१)

"प्रबोधिनी" में भगवान् को जगाने के लिए जो शृङ्गारिक पद हैं,

उनके अंत में वे भारत की दुर्दशा की याद बड़ी मार्मिकता से दिलाना नहीं भूले हैं—

> डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो। आलस दवएहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो॥ महामूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो। कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो॥ अपुनो अपुनायो जानि कै करहु कृपा गिरिवर धारन। जागो बलि बेगहि नाथ अब देहु दीन हिन्दुन सरन॥१७॥
>
> प्रथम मान धन बुद्धि कुशल बल देह बढ़ायो। क्रम सों विषम विदूषित जन करि तिनहिं घटायो॥ आलस मैं पुनि फाँसि परसपर बैर चढ़ायो ताही के मिस जवन काम सम को पग आयो। तिनके कर की करवाल बल बाल वृद्ध सब नासी कै॥ १८॥

गए कहाँ विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर। चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर॥ कहँ क्षत्री सब मरे जरे विनासि सब गए किते गिर। कहाँ राजा को तौन साज जेहि जानत है चिर। कहँ दुर्गसैन धन बल गयो धूरहि धूर दिखात जग। जागो अब तौ खलबल दलन रच्छहु अपनो आर्य्य मग॥१६॥

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दर। तहँ महजिद बनि गईं होत अब अल्ला अकबर॥ जहँ झूँसी उज्जैन अवध कन्नोज रहे बर। तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खंडहर॥ जहँ धन विद्या बरसत रही सदा अबै पाली ठहर। बरसत सबही विधि बेबसी अबतो जागो चक्रधर॥२०॥

गयो राज धन तेज रोष बल ज्ञान नसाई। बुद्धि वीरता श्री उछाह सूरता बिलाई॥ आलस कायरपनो निरुद्यमता अब छाई। रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई। सब विधि नासी भारत प्रजा कहुँ न रह्यो अवलम्ब अब। जागो-जागो करुनायतन फेर जागिहौ नाथ कब॥२१॥

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल। पशु समान सब अन्न खात पीअत गङ्गाजल ॥ धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल। जड़ समान ह्वै रहत अकल हत रचि न सकल कल ॥ जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिनु कछु नहि करि सकत। जागो-जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत ॥२२॥

पृथीराज जयचंद कलह करि जवन बुलायो। तिमिरलंग चंगेज आदि बहु नरन करायो। अलादीन औरङ्गजेब मिलि धरम नसायो। विषय वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो ॥ तबलौं सारो बहु नाश तुम जागे नहिं कोऊ जतन। अबलौं जागो बलि बेर भई है मेरे भारत रतन ॥२३॥

जागो हौं बलि गई विलम्ब न तनिक लगावहु। चक्र सुदरसन हाथ धरि रिपु मारि गिरावहु ॥ थापहु थिर करि राजछत्र सिर अटल फिरावहु। मूरखता दीनता कृपा करि वेगि नसावहु ॥ गुन विद्या धन बल मान सबै प्रजा मिलि के लहै। जय राज राज महराज की आनन्द सो सबही कहै ॥२४॥

सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै। कर राजा नहिं लेइ प्रजन पै हेत बढ़ावै। गाय दूध बहु देहि तिनहिं कोऊ न नसावै। द्विज-गन आस्तिक होइ मेघ सुभ जल बरसावै। तजि छुद्र वासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं। कहि कृष्ण-राधिका नाम जप हमहूँ जिय आनन्द भरहिं ॥२५॥

उनकी राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता थी, यह उनके "कर्पूरमंजरी" (नाटक) के भरत-वाक्य से सिद्ध है—

> उन्नत चित्त ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं
> कपट नेह तजि सहज सत्य ब्योहार चलावैं
> जवन संसरग जात दोष गन इन सों छूटैं
> सबै सुपथ पथ चलैं नितहिं सुख सम्पति लूटैं

तजि त्रिविध देश रति कर्मयति एक भक्ति पथ सब गहै
हिय योग बली सम गुरा हरि प्रेम धार नित ही बहै

इसीलिए उनका ध्यान "भारतमाता" (बँगाल) पर गया और उन्होंने उसका हिंदी रूपांतर 'भारत-जननी' नाम से किया। एक बड़ा भारी खँडहर है। एक टूटे देवालय के सहन में एक गैली साड़ी पहिने बाल खोले, भारतजननी निद्रित सी बैठी है, भारत संतान इधर-उधर सो रहे हैं। भारत-सरस्वती आती है और इस उदासी का कारण पूछती है। कई बार जगा कर, हार कर रोती हुई जाती है। भारत दुर्गा आती है। रोते-रोते हाथ की तलवार छोड़कर जाती है। भारत-लक्ष्मी आती है और उत्तर न पाते-पाते रोती हुई चली जाती है, तब भारतमाता की आँखें खुलती हैं और वह दुखी होती है कि लक्ष्मी चली गई अब यह लड़के क्या करेंगे? इनको जगाकर वृतान्त कह दूँ। एक को उठाती है तो पहला सोता है, इसी भाँति सब को भारतमाता ने उठाया किंतु सब के सब फिर पूर्ववत् सो गये। परंतु भारत जननी साहस नहीं छोड़ती, उद्योग करती है। फलस्वरूप वे जागते हैं परंतु सोने पर तुले हैं। कैसे उन्हें उद्बोधन दे? वह उन्हीं के प्राचीन गौरव की कहानी कह कर धिक्कारती है। जब बालक पूछते हैं तो भारतमाता उन्हें महारानी विक्टोरिया के चरणकमलों में अपने दुःख का निवेदन करने को कहती है। वे पुकारते हैं। एक साहिब आता है और उनको इस कोलाहल के लिए भर्त्सना करता है, परंतु दूसरा साहब आकर उन्हें इंगलैंड-चन्द्र-लांच्छन कहता है और आश्वासन देता है।

इस रूपक से भारतेन्दु की राष्ट्रीय विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वे अच्छी तरह अपने देशवासियों की स्थिति को जानते हैं:

(१) वे राज-भक्ति दिखाने के लिए भी परतंत्र हैं "या हम लोगों की तो यहाँ तक इच्छा होती है कि सेना-विभाग में जाकर

महारानी की ओर से उनके शत्रुओं से प्रथम ही युद्ध करें, और इससे अपने को प्रतिपालित करें, परंतु वह भी तो नहीं करने पावे।" (पृ० ११)

(२) उनकी प्रार्थना पर ब्रिटिश सरकार (विक्टोरिया) कोई ध्यान नहीं देती, इस प्रार्थना पर भारत का अंग्रेज शासक-वर्ग गुर्राता है, दो चार स्वतंत्र अंग्रेज भले ही आश्वासन देते रहें—

(रे दुराशय ! दुर्वृत्तिगण ! क्या इसी हेतु हमने तुम लोगों को ज्ञानचन्द्र दिया है ? रे नराधम ! राजविद्रोही ! महारानी के पुकारने में तुम लोगों को तनिक भी भय का संचार नहीं होता ? उह ! यदि हम जानते तो क्या हम तुम लोगों को लिखना पढ़ना सिखाते।)

(३) ऐसी अवस्था में चारा क्या है—धैर्य और आत्म-शुद्धि एवं एकता के लिए प्रयत्न—

(अभिमान, लोभ, अपमान, आत्मसमाज प्रशंसा, परजात-निंदा, इन सबका सावधानी-पूर्वक परित्याग करो, धैर्य का अवलम्बन करो।)

(धैर्य, उत्साह और ऐक्य के उपदेशों को मन में रख, इस दुखिया के दुख दूर करने में तन-मन से तत्पर हो।)

इसी से वह नाटिका (रूपक) को इस भरत-वाक्य में समाप्त करते हैं—

बल कला कौशल अमित विद्या बत्स भरे मिल लहै
पुनि हृदय ज्ञान प्रकाश तें अज्ञान तम तुरतहिं दहै
तजि द्वेष ईर्षा द्रोह निन्दा देश उन्नति सब चहै
अभिलाख यह जिय पूर्ववत बन धन्य मोहि सबही कहै

इसी नाटिका में एक सुन्दर "होली" है—

भारत में मची है होरी

(परिशिष्ट में संग्रहीत)

भारत की मङ्गलाकांक्षा के लिए कवि की व्यग्रता उनके देश-प्रेम की उच्चतम प्रतीक है। कवि प्रार्थना करता है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए

जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए
इतके पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई
अपनी सम्पति जानि इनहिं तुम गह्यो तुरतहिं धाई
प्रलय काल सम जौन सुदरसन असुर प्रान संहारी
ताकी धार भई अब कुण्ठित हमरी बेर मुरारी
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटे
एक-एक दिन सहस-सहस नर सीस काटि भुव पाटे
ह्वै अनाथ आरत कुल विधवा बिलपहिं दीन दुखारी
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई
भक्तवछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयालु कहाई
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहिं लेहु न अबहुँ बचाई

भारत की स्वतन्त्रता और तज्जन्य दुर्व्यवस्था के प्रति भारतेन्दु का ग्लानि-भाव बड़ा गहरा है। वे कहते हैं—

कासी प्राग अयोध्या नगरी। दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी
चंडालहु जेहि देखि घिनाई। रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई
हाय पंचनद! हा पानीपत! अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत
हाय चितौर! निलज तू भारी। अजहूँ खरो भारतहिं मझारी

जा दिन तुव अधिकार नसागो। सो दिन क्यों नहिं धरति समागो
तुममें जल नहिं यमुना गङ्गा। बढ़हु बेगि करि तरल तरङ्गा
धावहु यह कलङ्क की रासी। बोरहु किन झट मथुरा कासी
कुरु कन्नौज अंग अरु बंगहि। बोरहु सब निज कठिन तरङ्गहि
अहो भयानक भ्राता सागर। तुम तरङ्ग निधि अति बल आगर
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई। देहु भरत.................
घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय। करहु सकल जल भीतर तुम लय
धोवहु भारत अपजस बंका। मेटहु भारत भूमि कलंका

परन्तु अतीत के गौरवगान और वर्तमान के प्रति जागरुक उद्बोधन के कारण उनके राष्ट्रीय गान पराजय के गीत नहीं हैं—

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान। करते अमृतोपम बेद-गान
तब मोहत सब नर-नारि वृंद। सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद
जग के सब ही जन धारि स्वाद। सुनते इनहीं को बीन-नाद
इनके गुन ह्वो तौ सबहिं चैन। इनहीं कुल नारद तानसैन
इनहीं के क्रोध किये प्रकास। सब काँपत भूमण्डल अकास
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर। गिरि काँपत हैं सुनि चार ओर
जब लेते रहे कर में कृपान। इनहीं कहँ हो जग तृन समान
सुनि के रन-बाजन खेत माहिं। इनहीं कहँ लों जिय संक नाहिं

हम देखते हैं कि इतने पर भी भारतेन्दु ने गवर्नमेन्ट (सरकार) का सक्रिय विरोध नहीं किया। वह अंग्रेज राज्य के 'चिर थापहु' (चिर स्थापन) के लिए कल्याण-कामना करते दिखलाई पड़ते हैं और उनकी कितनी ही सामयिक कविताओं ने देशभक्ति में राजभक्ति का रूप ग्रहण कर लिया है। वास्तव में भारतेन्दु 'लिबरल' थे, जैसा पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने तृतीय हिन्दी सा० स० के भाषण में कहा है। वे एक साथ ही राजा और प्रजा के पक्षपाती थे। राजा के इसलिए कि परिस्थिति इस प्रकार की थी कि स्वतन्त्र

देशी राज्य अंग्रेजी शासकों से भी अधिक निरंकुश होकर जनता का हनन करते थे। "विषस्य विषमौषधम्" (नाटक) के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने विदेशी राज्य को अनिवार्य परिस्थिति में विष समझकर ही उपयोगी माना था। सच तो यह है कि वह सदा प्रजापक्षी ही अधिक रहे। और कदाचित् अंतिम समय तो उनका दृष्टिकोण एकदम क्रान्तिकारी हो गया था। 'क्षत्रिय पत्रिका' के सम्पादक बा० रामदीन सिंह ने एक पत्र में लिखा है—

"अबकी बकरीद में भारतवर्ष के प्रायः अनेक नगरों में मुसलमानों ने प्रकाश रूप में जो गो-बध किया है उसमें हिन्दुओं की सब प्रकार की जो मानहानि हुई है वह अकथनीय है। पालिसी परतंत्र गवर्नमेन्ट पर हिन्दुओं की अकिंचितकरता और मुसलमानों की नम्रता भली भाँति विदित है। यही कारण है कि जान-बूझकर भी वह कुछ नहीं बोलती, किन्तु हम लोगों को जो भारतवर्ष में हिन्दुओं के ही बीच से उत्पन्न हैं, ऐसे अवसर पर गवर्नमेन्ट के कान खोलने का उपाय अवश्य करणीय है।"

(ब्रजरत्नदास पृ० ३३०)

भारतेन्दु की विशेषता सामयिक विषय की कविताएँ थीं; परन्तु उनके पीछे उस युग का इतिहास-ज्ञान था। अनेक शैलियों में अनेक भावों के उत्थान-पतन के साथ भारतेन्दु ने राष्ट्रीय और जातीय कविता को जन्म दिया है। दो चित्र देखिए—

१—मलारी जलद तिताला

(समय—सिकन्दर का पंजाब का युद्ध)

पोरस सर जज रन महँ बरसत। लखि के मोरा जियरा हरसत
बिजुरी सी चमकत तरवारैं। बादर सी तोपैं ललकारैं
बीन्ध अचल गिरिवर सो दखी। गज चढ़ि देवराज सम भरसत

झींगुर से झनकत हैं बखतर । जवन करत दादुर से टर-टर
छुरीं उड़त बहुत जुगनू से । एक एक कौं तम सग गरजत
बढ्यौ वीररस सिन्धु सुहायो । डिग्यौ न राजा गब न डिगागौ
ऐसो नीर बिलोकि सिकन्दर । जाइ मिल्यौ कर गों कर परसत

२—मलार चौताल

(समय—कुतुबुद्दीन का राज)

छाई अँधियारी भारी सूझत नहिं राह कहूँ
गरजि-गरजि बादर से जवन सब डरावैं
चपला-सी हिन्दुन की बुद्धि वीरतादि भई
छिपे वीर तारागन कहुँ न दिखावैं
सुजस-चंद मंद भयो कायरता-घास बढ़ी
दरिद नद उमड़ि चली मूरखता पंक चहल पहल पग पंसावै

इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु मुसलमानों के राज्य को स्वदेशी राज्य नहीं समझते थे और अँग्रेज राज जिस अराजकता का स्थानापन्न बना था, उसकी भीषणता भी वे जानते थे । इसी से हम उनकी कविताओं में देशभक्ति और राजभक्ति का वह मिश्रण पाते हैं जो भारतेन्दु-युग के सामयिक एवं राजनीतिक काव्य की विशेषता है। १६०५ ई० के बङ्गभंग के आन्दोलन के बाद राजभक्ति की आवाज धीमी पड़ गई और महायुद्ध के बाद वह लोप हो गई, परन्तु १६वीं शताब्दी तक जनता और जनता के प्रतिनिधियों का अँग्रेजी राज्य की बरकतों में अडिग विश्वास था । हाँ, अंतिम दशाब्द में महामारी, अकाल आदि भयंकर कष्टों में उन्हें सरकार और देश के स्वार्थों की विषमता का आभास अवश्य मिला था । इसीलिए हम देखते हैं कि प्रगतिशील लाटों की प्रशंसा लिखी जाती थी । रिपनाष्टक (१८८४) में बाबू हरिश्चन्द्र, ऐसे ही एक लाट लार्ड रिपन की प्रशस्ति लिखते हैं, और कहते हैं—

हम राजभक्ति को बीज जो अबलौं उर अंतर धर्यो
निज न्याय-नीर सों सींचि कै तुम वागै अंकुर कर्यो

और उसी वर्ष 'जातीय संगीत' में विक्टोरिया की मंगलकामना करते हैं—

प्रभु रच्छहु दयाल महरानी
बहु दिन जिए प्रजा-सुखदानी
हे प्रभु रच्छहु श्री महरानी
सब दिसि में तिनकी जय होई
रहै प्रसन्न सकल भय खोई
राज करै बहु दिन लौं सोई

इससे पहले ही हम उन्हें उन ऐतिहासिक घटनाओं में गौरवान्वित होते हुए पाते हैं जिन्होंने देश में मान बढ़ाया और उसके वीरत्व की स्थापना की। उन्होंने अफगान-युद्ध की समाप्ति पर कविता लिखी (विजयवल्लरी १८८१), भारतीय फौजों की मिश्र की विजय पर उन्होंने कीर्तिगीत गाये (विजयनी विजय-पताका या वैजयंती १८८२)। इससे पहले अफगान-युद्ध छिड़ने पर भी कविता लिख चुके थे (भारत साहित्य १८७८)। १ जनवरी १८७७ को उन्होंने युवराज के स्वागत में एक सभा बुलाई और उसमें उन्होंने एवं उनके इष्टमित्रों ने कविताएँ पढ़ीं। "भारत-भिक्षा" (प्र० १८७५) में भी इसी प्रकार के उद्गारों से कवि प्रेरित हुआ है—

उदयो भानु है आज या देस माहीं
रह्यो दुःख को लेसहू सेस नाहीं
महाराज अलबर्ट्ट या भूमि आए
अरे लोग धावौ बजावौ बधाए

इन कविताओं में अँगरेजी राज्य के प्रति जो अडिग विश्वास झलकता है, वह हमें आज अप्रगतिशील जान पड़ेगा, परन्तु

उन दिनों राजभक्ति के साथ देशहितैषियता भी बँधी थी। इसी कविता में भारतेन्दु कहते हैं— राजकुमार का आगमन सुन—

सुनत आगमन तजि भारत भाई। उठी तुरंतहिं जिय अकुलाई
निविड़ केस दोउकर निरुआरी। पीत वदन की कांति पसारी
भरे नेत्र अँसुअन जल-धारा। लै उसास यह वचन उचारा
क्यों आवत इत नृपति कुमारा। भारत में छायो अँधियारा
कहा यहाँ अब लखिवे जोगू। अब नाहिन इत वे सब लोगू
जिनके भय कम्पत संसारा। सब जग जिनको तेज पसारा
रहे शास्त्र के जब आलोचन। रहे सबै जब इत षट दर्शन
भारत विधि विद्या बाहु जोगू। नहिं अब इत केवल है सोगू
सो अमूल्य अब लोग इतै नहिं। कहाँ कुँअर लखिहै भारत महिं
रहै जबै मनि कीट संकुल। रह्यो दंड जब प्रबल अखंडल
रह्यो रुधिर जब आरज सीसा। ज्वलित अनल समान अवनीसा
साहस बल इन सम कोउ नाहीं। जबै रह्यो महि मंडल माहीं
जब मोहिं ये कहि जथनि पुकारैं। दसहू दिसि धुनि गरज न पारैं
तब मैं रही जगत की माता। अब मेरी जग में कह बाता

परन्तु इन सब प्रशस्तियों के पीछे स्वीकारता का स्वर होते हुए भी असंतोष स्पष्ट है। अफ़ग़ान युद्ध विजय के आनन्द पर कवि संदेह करता है—

कहा भूमिकर उठि गयो कै टिक्कस भो माफ़
जन साधारन को भयो किधौं सिविल पथ साफ़
नाटक अरु उपदेश पुनि समाचार के पत्र
कारामुक्त भये यहा जो आनंद अति अत्र

उनकी नए ज़माने की मुकरी (१८८४) में यह असंतोष अनावृत सामने आता है—

भीतर भीतर सब रस चूसै
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै

जाहिर बातन में अति तेज
क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अभी कांग्रेस का जन्म नहीं हुआ था और राष्ट्रीय भावना बंगाल जैसे प्रगतिशील प्रांत में भी सोई हुई थी। भारतेन्दु ने जो इस जातीय, राष्ट्रीय एवं सामयिक कविता का सूत्रपात किया, वह बाद के १५ वर्ष में बहुत विकसित हुई और धीरे-धीरे उसमें असंतोष विद्रोह और क्षोभ का रूप ग्रहण करने लगा। भारतेन्दु को काव्य की इस धारा के प्रवर्तक होने का श्रेय मिलना चाहिए। १६०० के बाद हिंदी कविता का नए ढंग से संस्कार हुआ। पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी इसके नेता थे। काव्य में कितनी ही नई बातें उठीं, परन्तु सामयिक काव्य बहुत शीघ्र ही लोप हो गया और जन-काव्य भी। लावनी, ठुमरी, मुकरी, चलते गीतों के ढंग की कविता, मिश्र-काव्य (नौटंकी के ढंग की कविता)—इनका स्थान संस्कृत वृत्तों ने ले लिया। भाषा में भी परिवर्तन हुआ। काव्य की भाषा से अलग उसकी भाषा बन गई। कविता का जन संपर्क जाता रहा। इससे वह लोक-जीवन से दूर जा पड़ी। द्विवेदी-युग की कविता भारतेन्दु-युग की कविता पर नागरिक संस्कारों और पुरातनप्रियता की विजय है। उसमें वह जीवनशक्ति नहीं जो भारतेन्दु और उनके इष्ट-मित्रों की कविताओं में है। बीसवीं शताब्दी के ४५ वर्ष बीतने पर आज हम फिर सामयिक कविता की आवश्यकता समझने लगे हैं और उसकी शैली और संस्कृति गढ़ने में प्रयत्नशील हैं। इस क्षेत्र में हम भारतेन्दु द्वारा स्थापित परम्परा को ही आगे बढ़ावेंगे।

५

भारतेन्दु का प्रकृति-चित्रण

भारतेन्दु-युग ऐसा समय था जब हिन्दी कविता राजाश्रयों से निकलकर जन-मार्ग पर आ खड़ी हुई थी। उसमें पिछली काव्य-परम्पराओं का गहरा अनुरोध था, परन्तु नवीनता भी कम नहीं थी। भारतेन्दु युग-संधि पर खड़े हैं। अतः उनके काव्य में हम प्राचीनता-नवीनता का बड़ा सुन्दर मेल देखते हैं। स्वयं उनके काव्य के दो भेद हो सकते हैं। एक प्राचीन काव्य-परिपाटियों को लेकर चला है जैसे उनकी संत कविता, भक्ति काव्य, शृङ्गार काव्य। दूसरा, नवीन प्रसंगों और नूतन राष्ट्रीय एवं सामाजिक संस्कारों को लेकर उपस्थित हुआ है। प्राचीन परिपाटी की कविता अधिकांश परम्परायुक्त है, यद्यपि भारतेन्दु ने उसमें भी प्रेम-भावना को संस्कृत करने का प्रयत्न किया है। इस परिपाटी की प्रकृति-विषयक कविता में कोई भी नवीनता नहीं है, वही उद्दीपन भाव की पुष्टि के लिए या भाव-चित्रण की वीथिका के रूप में उसका प्रयोग हुआ है। रीति-काव्य में प्रकृति चित्रण की एक रूढ़ि स्थापित हो गई थी, इसलिए पहले इसी काव्य की प्रवृत्ति पर विचार करेंगे—

"सूर और तुलसी आदिस्वच्छंद कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि रीतिकाल के शृङ्गारी कवियों ने उसके पैर छानकर उसे गंदी गलियों में भटकने

के लिए छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल के सुर्ख बिछौने गड़ने लगे। यदि कोई षड्ऋतु की लोक पीटने खड़े हुए तो कहीं शरद की चाँदनी से किसी विरहिणी का शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक से कलेजों के टूक किये, कहीं किसी को प्रमाद से प्रमत्त किया। उन्हें तो इन ऋतुओं को उद्दीपन मात्र मान संयोग या वियोग की दशा का वर्णन करना रहता था। उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों पर तो जमती नहीं थी, नायक या नायिका पर ही दौड़-दौड़कर जाती थी। अतः उनके नायक या नायिका की अवस्था विशेषकर प्रकृति की दो-चार इनी-गिनी वस्तुओं से जो संबंध होता था, उसी को दिखाकर वे किनारे हो जाते थे।"

(पं० रामचन्द्र शुक्ल)

जब हम केशवदास के प्रकृति-चित्रण में उन्हें उत्प्रेक्षा-विरोधाभास की झड़ी लगाते देखते हैं, और यह कहते सुनते हैं—

देखे मुखे भावे, अनदेखे चन्द

और जब बिहारी के साथ पढ़ते हैं—हे नायक, उधर प्रकृति में चंद्रोदय क्या देख रहा है, इधर नायिका की ओर देख! तब हमें अवतरित कथन की सत्यता में कोई भी संदेह नहीं रह जाता।

काव्यालोचना में प्रकृति को अपने स्वाधिकार पर प्रतिष्ठित करानेवाले आलोचक प्रवर पं० रामचंद्र शुक्ल भारतेन्दु के प्रकृतिचित्रण पर लिखते हैं—"बाबू हरिश्चंद ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छेड़ नए-नए संस्कार उत्पन्न किये, पर उन्होंने भी प्रकृति पर प्रेम न दिखाया। उनका जीवन-वृत्तान्त पढ़ने से भी पता चलता है कि वे प्रकृति के उपासक न थे। उन्हें जङ्गल, पहाड़, नदी आदि को देखने का उतना शौक न था। × × वे उर्दू कविता के भी प्रेमी थे जिसमें बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण

की चाल नहीं। × × वन, नदी, पर्वत, आदि के चित्रों द्वारा मनुष्य को कल्पना को स्वच्छ और स्वस्थ करने का भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं लिया है।

उनकी रचनाओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव बराबर पाया जाता है। ऋतु-वर्णन में उन्होंने मनुष्य की कृति ही की ओर अधिक रुचि दिखाई। जैसे "सत्य हरिश्चंद्" के गंगा के इस वर्णन में—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति
बिच-बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनुगोहति
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेट्यो उठि धाई
सपनेहु नहिं तजी रही अंकम लपटाई
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा-पताका
घहरति घंटा धुनि, धमकत धौंसा करि साका
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारीनर गावत
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत

× × × 'चंद्रावली नाटिका' में एक जगह यमुना के तट का वर्णन आया है। पर वह परम्परायुक्त हुई है। उसमें उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं मात्र की भरमार इस बात को सूचित करती है कि कवि का मन प्रस्तुत वस्तुओं पर रमता नहीं, हट-हट जाता था। कुछ अंश देखिए—

१—तरनि तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए
झुके कूल सों जल परसनहित मनहु सुहाए

किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा
मनु आतप वारन तीर कौ सिमिटि सबै छाए रहत
कै हरिसेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत

२—कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन
कहुँ सैवलन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन
मनु दृगधारि अनेक जमुन निरखति ब्रज शोभा
कै उमगे पिय-प्रिया-प्रेम के अगनित गोभा
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई

३—कै पियपद-उपमान जानि यहि निज उर धारत
कै मुख करि बहु भृङ्गन मिसि आतुरि उच्चारत
कै ब्रज तियगन-बदन-कमल की झलकति झाँई
कै ब्रज हरिपद दास हेतु कमला कहुँ आई
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल बगरे फिरत
कै जानि लच्छमी-भौन यहि करि सतधा निज जल धरत

भारतेन्दु ने राधाकृष्णदास को लिखे कुछ पत्रों से अपनी काश्मीर-यात्रा के प्रकृति के सुन्दर चित्र दिये हैं, इससे यह प्रगट है कि वे प्रकृति के प्रति आकर्षित अवश्य होते थे, परन्तु काव्य में उन्होंने प्राचीन परिपाटी का ही आश्रय लिया। यदि वे उपन्यास लिखते, तो हमें उनके द्वारा प्रकृति के सुन्दर खंडचित्र अवश्य मिलते, परन्तु नाटकों में प्रकृति के लिए अधिक स्थान भी नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के साहित्य में केवल कविता ही एक ऐसा साहित्य-भेद है जिसमें हमें उनके, प्रकृति-चित्रण के दर्शन होते हैं और यहाँ वे परम्परायुक्त, रूढ़, शैली और विचारधारा को ही लेकर चले हैं। हमें यह स्वीकार करना

है, कि प्रकृतिचित्रण को उनका नेतृत्व नहीं मिल सका है। उनके समसामयिकों में से बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपने प्रकृतिचित्रण में यह विशेषता दिखाई है कि वर्षा को ऋतुराज माना है, वसंत को नहीं, जैसा परम्परा से काव्य में प्रसिद्ध चला आता है। चौधरी जी विन्ध्यवासी थे, मिर्ज़ापुर के आस-पास के पर्वतों और बनस्थली के वैभव से वे परिचित थे, वे वर्षा पर रीझ उठे और उन्होंने एक बड़ा साहित्यिक रूढ़ि का विरोध किया। सच तो यह है कि हमारे देश में वर्षा का वैभव वसंत के वैभव से किसी प्रकार कम नहीं है। चौधरीजी के काव्य में ही हम पहले उन्नीसवीं शताब्दी की कविता में प्रकृति के प्रति रसात्मक अनुरोध पाते हैं। इसके बाद पं० श्रीधर पाठक आते हैं। हिन्दी काव्य में आधुनिक ढंग का प्रकृतिचित्रण पहले-पहल इन्हीं से शुरू होता है। इन्हें प्रेरणा भी अंग्रेज़ी साहित्य, विशेषकर गोल्डस्मिथ से हुई। यह भी आश्चर्य की बात है। उस समय तक अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों वड्र्सवर्थ, शैली, कीट्स, बाइरन आदि की प्रकृति-संबंधी कविताएँ पाठ्य पुस्तकों के रूप में हमारे विद्यार्थियों को उपलब्ध थीं, परन्तु पाठक जी ने अपनी युग की आत्मा के अनुकूल स्वच्छंदतावादी कवियों को न चुनकर एक क्लासिकल कवि को चुना। जो हो, उनके कारण प्रकृति के अनेक स्वतंत्र, अपने में पूर्ण, चित्र हिंदी में आये। उसके बाद तीसरी शक्ति का उदय हुआ। यह "सरस्वती" थी, जिसने १६०३ से १६१० तक अनेक अंग्रेज़ी प्रकृति कविताओं का अनुवाद किया, और नवयुवक कवियों को स्वच्छंदतावादी अंग्रेज़ी कवियों के चित्रण की ओर आकर्षित किया।

६

नाटक

हिन्दी नाटक ने हमारे सामने कई समस्याएँ उपस्थित की हैं। उनमें सबसे पहली समस्या यह है कि उसका जन्म इतनी देर में क्यों हुआ ? यह तो सब जानते हैं कि हमारा हिन्दी साहित्य संस्कृत का कितना ऋणी है। हिन्दी कविता-साहित्य के विकास में संस्कृत साहित्य-शास्त्र और साहित्य का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। फिर जब हिन्दीवालों के सामने संस्कृत के अत्यन्त उच्चकोटि के नाटक वर्तमान थे, तो उनके अनुकरण में ही सही, नाटकों की रचना नहीं हुई।

समस्या के समाधान के लिए अनेक कारण उपस्थित किये गये हैं। पहली बात, नाटकों के लिए गद्य का प्रयोग आवश्यक है। हिन्दी में गद्य साहित्य का निर्माण देर से हुआ। गद्य की भाषा का जन्म १९वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। अतः नाटक नहीं बन सकते थे। दूसरी बात, नाटक के लिए खेला जाना आवश्यक है। रंगमंच चाहिए। जब तक हिन्दू राजाओं का राज्य रहा, उनके दरबारों में रंगमञ्च मिलते रहे। जब मुसलमान आये तब देश में अशांति छा गई। रंगमञ्च नष्ट हो गये। जनता के रंगमञ्चों का जन्म ही नहीं हुआ था। नाटक पठन-पाठन मात्र की वस्तु रह गई। श्रव्य-काव्य का बोलबाला रहा। मुसलमान मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, उनके यहाँ नाटक के प्रकार की कोई चीज नहीं थी। वे विधाता की सृष्टि के अनुकरण को कुफ्र समझते थे। उनके दरबारों में नाटक और रंगमञ्च को आश्रय नहीं मिला।

तीसरी बात, कितने ही नाटकों का लोप हो गया था। जो थे उनसे विद्वान् ही परिचित थे। नाटक साहित्य-मर्मज्ञों के अध्ययन की वस्तु था। साधारण जनता तक उसकी पहुँच श्रव्य-काव्य के रूप में भी नहीं थी। कालिदास की शकुन्तला, भवभूति का उत्तर रामचरित, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, प्रबोधचन्द्रोदय जैसे एक दर्जन नाटक ही आदर पा रहे थे। तुलसी और केशव इनसे परिचित थे और उन्होंने अपने काव्य के संवादों को पुष्ट करने के लिए इनका उपयोग भी किया है। परंतु अभिनय के अभाव में नाटक रचना की ओर इनका ध्यान नहीं जा सकता था। मौलिक नाटकों का अंत हर्ष के साथ ही हो गया था। और हिंदी में उनकी रचना का आरम्भ हरिश्चन्द्र से हुआ।

भारतेन्दु से पहले हिंदी भाषा में कोई महत्त्वपूर्ण नाटक नहीं था। संस्कृत नाटकों की धारा कई शताब्दी पहले ही सूख गई थी। संस्कृत नाटक केवल पाठ्य ग्रंथ मात्र ही रह गये थे—वे न रंगमञ्च पर आते थे, न उनसे पंडित समाज ही परिचित था। हिंदी गद्य के विकसित रूप का आरम्भ १८०० ई० के बाद हुआ, अतः गद्य के अभाव में नाटक की कल्पना भी नहीं की जा सकती। काव्य-नाटक अंगरेजी में मिलते हैं, परंतु हमारे यहाँ तो काव्य गाने और सुर से पढ़नेमात्र के लिए प्रयोग में आता है। भारतेन्दु के अनुसार पहला हिंदी नाटक नहुप है जो उनके पिता की रचना है, परंतु वैसे हिंदी में "नाटक" नाम से कुछ चीजें अवश्य लिखी गई थीं इनमें से कुछ में तो नाटकीय तत्त्व जरा भी नहीं थे और उन्हें भ्रम से ही नाटक कह दिया गया है, जैसे जैन कवि बनारसीदास का "नाटक समयसार" (१६३६) शुद्ध काव्य है। परन्तु इस समय से कुछ पहले (१५८४ ई०) रामचरितमानस की रचना हो चुकी थी और उसके नाटकीय तत्त्व, चरित्र-चित्रण, सम्वादों आदि ने जनता में

उत्साह भरा होगा। प्रसिद्ध है कि तुलसी ने काशी में रामलीला भी आरम्भ की थी। कदाचित् ऐसे ही प्रयत्नों से प्रेरणा पाकर प्राणचंद चौहान ने १६१० ई० में रामायण महानाटक नामक वृहद् ग्रंथ लिखा। वास्तव में यह सम्वाद रूप में लिखा काव्य है। इस प्रकार के सम्वादात्मक रामकथा के अंश रामलीला के लिए बराबर लिखे गये। इस राम-नाटक की परम्परा में जानकी रामचरित नाटक (हृदीराम), रामलीला विहार (लक्ष्मणसरन), आनन्द रघुनन्दन (महाराज विश्वनाथ सिंह), नाटक रामायण (ईश्वरीप्रसाद) नाटक-ग्रंथ लिखे गये। यह सब कहने मात्र को नाटक हैं, प्रधानता काव्य की है। हम इन नाटकों की रचना को भारतेन्दु के समय तक चलता हुआ पाते हैं।

हिन्दी प्रदेश के पूर्वी प्रांतों में जिस प्रकार रामलीला का प्रचार था उसी प्रकार ब्रज प्रदेश और पश्चिमी प्रान्त में रासलीला और यात्राओं के लिए नाटक लिखे गये। रामलीला के ढंग पर लिखे गये कृष्णलीला सम्बन्धी नाटकों में १७१५ ई० में लिखा हुआ लच्छीराम का श्रीकृष्णलीला नाटक और गणेश चतुर्वेदी का कृष्ण-भक्तिचन्द्रिका नाटक महत्त्वपूर्ण हैं।

✓संस्कृत नाटकों के अनुवाद अधिकतः पद्य में हुए। अनुवादकारों में प्रबोधचंद्रोदय सब से अधिक लोकप्रिय रहा। इसके ६ अनुवाद हमें प्राप्त हैं। अनुवादकारों में जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह, ब्रजवासीदास और जनअनन्य की रचनाएँ सुन्दर हुई हैं। १७वीं शताब्दी में महाकवि देव ने इसी प्रबोध-चन्द्रोदय के आधार पर देवमायाप्रपंच नाटक की रचना की। १६८० ई० में निवाज ने शकुन्तला का अनुवाद किया और १८०६ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने एक दूसरा अनुवाद उपस्थित किया। हृदयराम ने १६२३ ई० में पद्य में हनुमन्नाटक का अनुवाद किया।

इन नाटकों के अतिरिक्त हमें कुछ कम महत्त्वपूर्ण रचनाएँ भी प्राप्त हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि भारतेन्दु से पहले हिन्दी नाटक के तीन रूप थे:—(१) रामलीला के लिए दोहे-चौपाइयों में गद्य-संकेतों के साथ सम्वाद। इसी प्रकार के कृष्ण-चरित नाटक। (२) ब्रजभाषा पद्य में संस्कृत से अनुवाद जिनमें या तो गद्य होता ही नहीं या बिल्कुल थोड़ा संकेत रूप से। (३) संस्कृत के गद्य अनुवाद, जिनमें केवल संस्कृत पद्य के स्थान में ही पद्य है, सर्वदा नहीं, जैसे शकुन्तला (१८०६)। इन परम्पराओं के अतिरिक्त बिहारी नाटकों की एक परम्परा भी पूर्वी हिन्दी प्रदेश में चली आती है। यह परम्परा संस्कृत नाटकों की है जो ग्यारहवीं शताब्दी में आरम्भ हुई थी, जब ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने नाटक लिखे। बाद के नाटकों में संस्कृत छन्दों के स्थान पर मैथिल पद्यों का प्रयोग हुआ जैसे उमापति के पारिजातहरण एकांकी वीर रसपूर्ण रूपक में जिसकी भाषा संस्कृत-प्राकृत है। १४वीं शताब्दी में मिथिला राज्यवंश नष्ट हो गया और नेपाल में स्थापित हुआ। यहाँ यह प्रथा चली कि प्रत्येक विशेष अवसर पर एक नया नाटक अभिनीत होता। इससे अच्छे नाटक लिखे गये। इन नाटकों में भैरवानन्द, रामायण नाटक, विद्या-विलाप, मुदित कुवल्याश्वर, हर-गौर विवाह, कुञ्जविहार, गीत दिगम्बर, मलयगन्धिनी, मदनचरित, मदालसाहरण, अश्वमेध, गोपीचन्द, माधवानल, रुक्मणी-परिणय मुख्य हैं। अंतिम नाटकों की भाषा मैथिली है और बीच-बीच में संस्कृत श्लोक हैं। भारतेन्दु के समय तक इन नाटकों की परम्परा चली आती थी। यह सब नाटक नेपाल के नरेशों और उनके आश्रित कवियों ने लिखे हैं। यह सब पद्य-प्रधान हैं, गद्य का प्रयोग नाममात्र को है। प्राचीन संस्कृत नाटकों की तरह इनके विषय भी पौराणिक कथाओं से लिए गये हैं। इनमें

से बहुत से अप्रकाशित हैं; इसलिए सारी सामग्री की परीक्षा हो भी नहीं सकी है।

भारतेन्दु के समय तक रास और यात्राओं एवं नौटंकी का प्रचार सारे उत्तरी भारत में हो चुका था। कदाचित् इनसे ही प्रभावित होकर नवाब वाजिदअली शाह के कवि अमानत ने 'इन्द्रसभा' नाटक की रचना की। यह १८५० ई० की बात है। अवध की बादशाही के अंतिम दिनों में इस नाटक को बड़ी लोक-प्रसिद्धि प्राप्त थी। अमानत की नकल में कितनी ही इन्द्रसभाएँ लिखी गईं, परन्तु उनमें से कोई अमानत की सफलता को न पहुँच सकी। भारतेन्दु के समय में भी इन्द्रसभा लोकप्रिय थी और थियेट्रिकल कम्पनियाँ बड़ी सजधज के साथ उसे खेल रही थीं।

भारतेन्दु पर इन सब परम्पराओं का कोई प्रभाव नहीं। नैपाल और मिथिला के नाटकों से वे परिचित नहीं जान पड़ते। यह सच है कि उनके विद्यासुन्दर नाटक की कथा-वस्तु नैपाल राज्याश्रय में लिए हुए विद्याविलास नाटक में उपस्थित है, परन्तु भारतेन्दु ने भूमिका में ही लिख दिया है कि वे उसके लिए विद्या-सुन्दर नाम के बँगला काव्य के आभारी हैं। शेष नाटक नाम के नाटक हैं। परन्तु भारतेन्दु को बँगला, संस्कृत और अँग्रेजी के नाटक मूल में प्राप्त थे। अपनी जगन्नाथ-यात्रा में वे बँगला नाटकों और नाटक मण्डलियों से परिचित हुए और उनका ध्यान नाटकों पर गया। बँगला का आधार संस्कृत होने के कारण उनका ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर भी गया। पहला नाटक 'प्रवास' अपूर्ण रहा और अब वह अप्राप्य है। इसके बाद हमें अपूर्ण 'रत्नावली' के दर्शन होते हैं। 'शकुन्तला' का अनुवाद हो चुका था। रत्नावली की भूमिका में वे लिखते हैं—"शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़नेवालों को

आनन्द देनेवाली है, इस हेतु से मैंने पहले इसी नाटक का तर्जुमा किया है।" पहली पूर्ण नाटिका विद्यासुन्दर ही है, जिसका आधार सुन्दर कृत विद्यासुन्दर और चौर पंचाशिका संस्कृत काव्य हैं। भारतेन्दु ने भारतचन्द्र राय गुणाकर के साहित्य से विशेष सहायता ली है। दोनों के पात्रों के नाम, स्थान आदि में साम्य है। पाँच नाटक संस्कृत से अनूदित और आधारित हैं (१) पाखंड विडम्बन, (प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का तीसरा अंक १८७२), (२) धनंजय-विजय व्यायोग (कवि कांचन कृत १८७३), (३) सत्य हरिश्चन्द्र (क्षेमेश्वर के चंडकौशिक का अनुवाद १८७५), (४) मुद्राराक्षस (इसी नाम के संस्कृत नाटक का अनुवाद १८७५), (५) कर्पूरमञ्जरी (संस्कृत कर्पूरमञ्जरी का अनुवाद, १८७६) बँगला नाटक भारत जननी के आधार पर भारतमाता (१८७७) की रचना हुई है। अङ्गरेजी नाटकों से भारतेन्दु विशेष परिचित नहीं जान पड़ते। उनका नाटक दुर्लभबन्धु (१८८०) मर्चेन्ट आफ वेनिस का अनुवाद है। बँगला में 'सुरलता' नाम से इसका अनुवाद हो चुका था। बाबू बालेश्वरप्रसाद ने वेनिस का सौदागर नाम से इसका हिन्दी अनुवाद उपस्थित किया था। परन्तु भारतेन्दु ने इससे असन्तुष्ट हो उन्हीं की सहायता से एक दूसरा अनुवाद शुरू किया। यह अपूर्ण रहा। बाद को पंडित रामशंकर व्यास और बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूरा किया।

बीच-बीच में मौलिक नाटक इस क्रम से लिखे गये—वैदकी हिंसा, हिंसा न भवति (प्रहसन, १८७३), प्रेमयोगिनी (यथार्थवादी स्केच, १८७५), विषस्य विषमौषधम् (भाण १८७५), चन्द्रावली (१८७५), नीलदेवी (ऐतिहासिक, १८८०), अंधेरनगरी (प्रहसन, १८८१), सतीप्रताप (केवल चार दृश्य, १८८४)। मौलिक रचनाओं का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

(१) पौराणिक—सतीप्रताप।

(२) ऐतिहासिक—नीलदेवी ।

(३) प्रहसन—अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ।

(४) भाण—विषस्य विषमौषधम् । इसकी गणना ऐतिहासिक नाटक के रूप में भी हो सकती है—

(५) गम्भीर मौलिक प्रयत्न——चन्द्रावली, प्रेमयोगिनी, भारत-दुर्दशा ।

भारतेन्दु ने डेढ़ दर्जन के लगभग छोटे-बड़े नाटक लिखे हैं। इनमें एक दर्जन मौलिक हैं।

बाबू ब्रजरत्नदास के अनुसार, उन्होंने १८६८ ई० में नाटक लिखने में हाथ लगाया और पहले-पहल एक मौलिक ग्रंथ 'प्रवास नाटक' का रचना की। इसका केवल एक पृष्ठ एक सज्जन को देखनेमात्र को मिल गया था पर वह भी अब नहीं मिलता (ब्रजरत्नदास, १६०)। इसके बाद इसी वर्ष उन्होंने 'रत्नावली' (हर्ष) के अनुवाद में हाथ लगाया और कदाचित् प्रस्तावना और विष्कुम्भक के अनुवाद से आगे नहीं बढ़ा सके। इसी वर्ष 'विद्यासुन्दर' नाटक का रचना हुई। मूल नाटक संस्कृत में 'विद्या-सुन्दर' नाम से ही प्रसिद्ध है और इसकी कथावस्तु "चौर पंचाशिका" काव्य का विषय बनाई गई है। परन्तु भारतेन्दु ने बंगला के भारतचंद्र राय गुणाकर के बँगला काव्य को आधार बनाया है। यह उनकी १८वें वर्ष की रचना है।

१८७२ ई० में भारतेन्दु ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक' 'पाखण्ड विडम्बन' नाम से अनूदित किया। अगले वर्ष (१८७३) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) की रचना हुई। यह एकांततः मौलिक ग्रंथ है। इसी वर्ष कवि कांचन के 'धनंजय-विजय' (व्यायोग) का अनुवाद हुआ। १८७४ में "प्रेमयोगिनी" नाटिका के ४ गर्भांक्क लिखे गये। यह नाटक यहीं तक लिखा

जाकर अपूर्ण रह गया है। १८७५ में सबसे प्रसिद्ध नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' की रचना हुई।

१८७६ में राजशेखर के सट्टक 'कर्पूरमञ्जरी' का अनुवाद किया। इसी वर्ष विषस्य विषमौषधम् (भाण) की रचना हुई। इसका विषय देशी राज्यों का अनीति व्यवहार है। १८७५ ई० में गायकवाड़ बड़ौदा कुप्रबन्ध के कारण गद्दी पर से हटाये गये थे। भारतीय राजनीति की गति-विधि पर सतर्क दृष्टि रखने-वाले भारतेन्दु इस घटना से प्रभावित हुए और यह नाटक उसी प्रभाव का फल है।

१८७६ (स० १९३३ वि०) में ही 'चन्द्रावली' भारतेन्दु के दूसरे अत्यन्त लोकप्रिय नाटक की रचना हुई। यह भक्तिपूर्ण नाटिका हिन्दी भाषा नाटकों में सबसे उत्कृष्ट है। इसी वर्ष भारत-दुर्दशा नाटक की रचना हुई। कुछ लोगों की धारणा है कि यह नाटक प्रेमघन का लिखा हुआ है और उसे भारतेन्दु ने प्रकाशित किया है।

इसके बाद कई वर्ष तक हम भारतेन्दु को कोई नाटक लिखते नहीं पाते। १८८१ ई० में उन्होंने 'नीलदेवी' लिखकर फिर नाटक-रचना आरम्भ की। 'नीलदेवी' उनका एकमात्र ऐतिहासिक नाटक है। इसी वर्ष 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा' प्रहसन की रचना की। कथा प्रसिद्ध थी, पहले इसी कथा पर प्रहसन बने और खेले जा चुके थे, परंतु भारतेन्दु का प्रहसन सबसे उत्कृष्ट था।

भारतेन्दु का चौथा प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस'(विशाखदत्त) का अनुवाद है, जो क्रमशः निकला। यह १७७५ में अप्रैल (फाल्गुन सं० १९३१) की 'बालाबोधिनी' (मासिक पत्रिका) में छपना शुरू हुआ और प्रायः तीन वर्ष तक चलता रहा। यह अनुवाद ही है पर भाषा आदि की दृष्टि से यह भारतेन्दु की सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचनाओं के समकक्ष उतरता है।

अंग्रेजी में इनका यह एक ही अनुवाद मिलता है, वह शेक्स-पियर के सुखांत नाटक 'मर्चेन्ट ऑव वेनिस' का अनुवाद है। दुर्लभबन्धु (अर्थात् वेनिस का सौदागर)। यह विक्रमा १९३७ (१८८७ ई०) में हरिश्चंद्र-चंद्रिका और मोहन-चंद्रिका में छपना आरम्भ हुआ था। इस अनुवाद में बालेश्वरप्रसाद के 'वेनिस का सौदागर' और बँगला के 'सुरलता' से बड़ी सहायता ली गई थी।

इसके बाद की एक अपूर्ण रचना सावित्री सत्यवान (गीति रूपक) है। पहले चार दृश्य लिखकर ही हरिश्चंद्र ने इसे छोड़ दिया था। 'भारत जननी' बंगला 'भारतमाता' का अनुवाद है (१८७७)। वस्तुतः इनके अनुवादक उनके कोई मित्र थे। परंतु हरिश्चंद्र ने उसका लगभग आमूल सुधार किया था। अतः अनु-वादक के स्थान पर उन्हीं का नाम रह गया। इसकी कविताएँ तो उनकी ही हैं।

इस संक्षिप्त परिचय के बाद भारतेन्दु के नाटकों की विस्तृत समीक्षा अपेक्षित है। भारतेन्दु ने "नाटक" नाम का एक निबंध भी लिखा है। यह उनकी अंतिम रचना है जब वे नाटक लिख चुके थे। अतः इसकी पृष्ठभूमि में हम उनके नाटकों को रख सकते हैं।

भारतेन्दु श्री गोस्वामी राधाचरण जी को लिखते हैं, "आप अनेक ग्रंथों का अनुवाद करते हैं तो 'चैतन्य चन्द्रोदय' का अनुवाद क्यों नहीं करते? बड़ा प्रेममय नाटक है।"

(व्रजरत्नदास, पृ० ३२५)

"महात्माओं ने जो पद बनाये हैं उनमें प्रिया-प्रीतम का जो संवाद है व अन्य सखियों की उक्ति है उन्हीं सबों के यथास्थान नियोजन से एक रूपक बने तो बहुत ही चमत्कार हो अर्थात् नाटक की और जितनी बातें हैं, अमुक आया, गया इत्यादि अंक, दृश्य इत्यादि

मात्र तो अपनी सृष्टि रहै किन्तु सम्वाद मात्र उन्हीं प्रवीनों के पदों की योजना से हों। जहाँ कहीं पूरा पद रहै वहां पूरा कहीं आधा चौथाइ एकगुना जितना आवश्यक हो उतना मात्र उनसे से ले लिया जाय, वह भी यों ही कि एक बेर पदों में से चुनकर अत्यन्त चोखे-चोखे जो हों वा जिनमें कोई एक टुकड़ा भी अपूर्व हो वह चिन्हित रहै फिर यथास्थान उनकी नियोजना हो। ऐसा ही गीतगोविंद से एक संस्कृत में हो, बहुत ही उत्तम ग्रंथ होगा।
(ब्रज०,३२६)

हिंदी नाटक का उस समय कोई भी रंगमंच न था, यदि हम इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला, स्वांग आदि के रंगमञ्च को ही 'रंग-मञ्च' न कह दें। वास्तव में इन सबके लिए किसी विशेष विकसित रङ्गमञ्च की आवश्यकता नहीं होती थी। पारसी स्टेज का जन्म भी उस समय तक नहीं हुआ था, जब भारतेन्दु ने अपना पहला नाटक 'विद्यासुन्दर' लिखा। इसीलिए हिंदी में रङ्गमञ्च के आरम्भ के विषय में प्रातःस्मरणीय भारतेन्दु जी के शब्द याद रखने योग्य हैं—"हिंदी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया, वह 'जानकी-मङ्गल' था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५ (१८६८ ई०) में बनारस थियेटर में बड़ी धूमधाम से यह खेल खेला गया था। रामायण से कथा निकालकर यह नाटक पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी रणधीर-प्रेममोहिनी और सत्यहरिश्चंद्र खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलनेवाला कोई आर्य शिष्टजन का समाज नहीं है।"

यह बात भारतेन्दु ने 'नाटक' में लिखी है जो १८८३ ई० की रचना है जब वे अपना साहित्यिक काम लगभग समाप्त कर चुके थे। जब पारसियों के रंगमञ्च का जन्म हुआ और वह विकास को

प्राप्त हुआ, तब भी भारतेन्दु की सहानुभूति उसके साथ नहीं थी। पारसी रंगमंच पर जो नाटक खेले जाते थे, उन्होंने उसे "भ्रष्ट" नाटकों की श्रेणी में रखा है—"भ्रष्ट, अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व शेष नहीं रहा, यथा, भाँड़, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि"। वे कहते हैं— "पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्यमिश्र हैं तथापि काव्यहीन (होने) के कारण वे भी भ्रष्ट समझे जाते हैं।" भारतेन्दु के समय में तीन प्रकार के नाटक बनाये और खेले जा रहे थे—काव्यमिश्र, शुद्धकौतुक और भ्रष्ट। काव्यमिश्र पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि। ये सब से उच्चकोटि के नाटक थे जिनसे उस समय की जनता परिचित थी और जो तथाकथित साहित्य-कारों की रचनाएँ थीं। शुद्धकौतुक और भ्रष्ट नाटक-भेद के अंतर्गत जनता की रंगमञ्च की सारी प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। शुद्धकौतुक अर्थात् कठपुतली का खिलौना आदि से सभा आदि का दिखाना, गूँगे-बहिरे के नाटक, बाजीगरी व घोड़े के तमाशे, संवाद, भूत-प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियाँ। भ्रष्ट में भाँड, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी जिनमें तब तक नाटक और रंगमञ्च के बहुत थोड़े तत्त्व बच रहे थे। इन सबमें भारतेन्दु की प्रवृत्ति नाटक के काव्यमिश्र भेद की ओर थी। वे जनरंगमञ्च का प्रयोग भी करना चाहते थे; परन्तु प्रकृत्या नागरिक होने के कारण उन्होंने जनरंगमञ्च की ओर विशेष दृष्टि नहीं की। वे बँगला नाटकों और संस्कृत नाटकों की ओर मुड़े तथा ब्रजभाषा काव्य और रीतिशास्त्र से भी प्रभावित होकर उन्होंने कई नाटकों की रचना की।

जिन प्राचीन नाटक-भेदों पर उन्होंने प्रयोगात्मक या अनुवाद के रूप से लेखनी चलाई उनकी परिभाषा भी जानना आवश्यक है। ये भेद हैं—सट्टक, भाण, प्रहसन, नाटिका, नाटक।

"सट्टक—जो सब प्राकृत में हो और प्रवेशक, विष्कंभक जिसमें न हो और शेष सब नाटिका की भाँति हो, वही सट्टक है, जैसे कर्पूरमञ्जरी।"

"भाण—भाण में एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसी से बातें करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में—हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना आदि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है, जैसे विषस्य विषमौषधम्।"

"प्रहसन—हास्य रस का मुख्य खेल। एक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है, यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिये किन्तु अब अनेक दृश्य दिये बिना नहीं लिखे जाते, जैसे वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, अंधेरनगरी।"

"नाटिका—इसमें चार अंक होते हैं और स्त्रीपात्र अधिक होते हैं, तथा नाटक की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नाटक की पूर्व प्रणयिनी के वश में रहती है, जैसे चन्द्रावली।"

"नाटक—काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज, जैसे दुष्यंत व ईश्वरांश जैसा श्रीराम व प्रत्यक्ष परमेश्वर जैसा श्रीकृष्ण होना चाहिए। रस-शृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यंत उज्ज्वल होना चाहिए। उदाहरण—शकुन्तला, वेणीसंहार आदि।"

निम्नलिखित उद्धरण से पता चलेगा कि भारतेन्दु पश्चिमीय नाटकों से भली-भाँति परिचित थे—

अथ नवीन भेद

आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे

जाते हैं और बङ्गदेश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब भेद नवीन में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भाङ्कों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के लेखों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अंकों और गर्भाङ्कों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें भारतवर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अंतःपाती विशेष-विशेष समयों के वर्णन में एक एक गर्भांक। अथवा पाँच मुख्य घटना विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनांतःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक। जिनमें कथा-भाग विशेष और गीति न्यून हों वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीतिरूपक। यह दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं, किंतु उनके मुख्य भेद इतने किये जा सकते हैं, यथा, १ संयोगांत—अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो, २ वियोगांत—जिसकी कथा अंत में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद् घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण रणधीर-प्रेममोहिनी) ३ मिश्र—अर्थात् जिसको अंत में कुछ लोगों का तो प्राण-वियोग हो और कुछ सुख पावें।

इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य होते हैं, यथा, १ शृंगार, २ हास्य, ३ कौतुक, ४ समाज-संस्कार, ५ देशवत्सलता। शृंगार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, जगत में प्रसिद्ध हैं। कौतुक विशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्त विनोदार्थ किसी यंत्र-विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत

घटना दिखाई जायँ। समाज-संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा, शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति निवारण, अथवा धर्मसम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा-भाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अन्तर्गत है (इसके उदाहरण, सती-चरित्र, दु:खिनी बाला। बाल-विवाह विदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय नारसिंह की, चक्षुदान इत्यादि)। देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़नेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुणा और वीर रस के होते हैं—(उदाहरण -भारत जननी नीलदेवी, भारत-दुर्दशा, इत्यादि)। इन पाँच उद्देश्यों को छोड़ कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाटक बन सकते हैं।"

नाटक-रचना के संबंध में हम भारतेन्दु का प्राचीन और अर्वाचीन शैली का अच्छा अध्ययन पाते हैं। इसीसे स्पष्ट है कि उनकी शैली में दोनों का उचित परिमाण में मिश्रण है। वे कहते हैं—"प्रचीन काल में अभिनयादि के संबन्ध में तात्कालिक लोगों की और दर्शक-मंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदानुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्तविनोद कर गये हैं। किंतु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।" नीचे हम संक्षेप में भारतेन्दु के रचना सम्बन्धी विचार देते हैं जिन्होंने उनके ग्रंथों को प्रभावित किया है :

१—सामाजिकों (सहृदयगण) के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीतिपद्धति इन दोनों को समीचीन समालोचना करके ही दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।

२—प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोष्टिका होगी, वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।

३—देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है।

४—पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी वर्तमान काल में नहीं होती × × × स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।

५—अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं संफेट, पंच संधि वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही।

६—चित्रपट (प्रतिकृति Scenes) नाटक में अत्यंत प्रयोजनीय हैं और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस रहता है। इस दृश्य परिवर्तन के कारण ही जवनिका-पतन आवश्यक है।

७—भारतेन्दु नाटक के आरम्भ में थोड़ी बहुत प्रस्तावना आवश्यक समझते हैं। वे भरतमुनि द्वारा आयोजित प्रस्तावना के ५ प्रकारों में से ४ मान्य मानते हैं—उद्घात्यक, (सूत्रधार प्रभृति की बात सुनकर अन्य प्रकार अर्थ प्रतिपादन पूर्वक छः भाग प्रवेश होता है), कथोद्घात (जहाँ सूत्रधार की बात सुनकर उसके वाक्य के अर्थ का मर्म ग्रहण करके पात्र प्रविष्ठ होता है), प्रयोगातिशय (एक प्रयोग करते-करते घुणाक्षर न्याय से दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल में प्रयुक्त और उस प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करे), चर्चरिका (जहाँ बहुत स्वर मिलकर कोई बाजा बजे या गान हो)।

८—नाटक के एक एक विभाग को एक एक अंक कहते हैं। अंक में वर्णित नायक-नायिकादि पात्र का चरित्र और आचार व्यवहारादि दिखलाया जाता है। अनावश्यक कार्य का उल्लेख नहीं रहना। अंक में अधिक पात्र का समावेश दूषण है।

६—विपकंभक - नाटक में विपकंभक रखने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय वस्तु-रचना में जो-जो अंश अत्यंत नीरस और आडम्बरात्मक हों, उनके सन्निवेशित होने से सामाजिक लोगों को विरक्ति और अरुचि हो जाती है। नाटक प्रणेतागण इन घटनाओं को पात्र विशेष के मुख से संक्षेप में विनिर्मित कराते हैं।

१०—वार्तालाप—ग्रंथकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत रचना करै कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसा ही उसकी बातचीत भी विरचित हो × × नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वर्गमता का ही सम्यक् आदर होता है।

११—नाटक में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिए। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का मुख्य उद्देश्य नहीं है।

१२—नाटक रचयिता को सूक्ष्मरूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति-आलोचना करनी चाहिए।

१३—विदूषक—बहुत से नाटक लेखकों का सिद्धान्त है कि अथ-इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता रहती है किन्तु यह एक भ्रममात्र है। × × ×

१४—नाटक-रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए × × हा, नवीन (ट्रैजेडी) वियोगांत नाटक लेखक तो यह रस विरोध करने को बाधित है।

१४— नाटक में शिक्षा—आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक-रचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्यशिष्टगण ग्रंथ का तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढ़ने या देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्य हरिश्चंद्र देखने से आर्यजातिकी सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती है।++

१६—उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखाई जाये और दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति को कष्टमय दिखलाई जाये।

१७—नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापरबद्ध हो कि जब तक अंतिम अंक न पढ़े, किंवा न देखे, यह न प्रकट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा?

१८—भारतेन्दु 'स्वगत' के प्रयोग की मान्यता स्वीकार करते हैं। अंत में हमें भारतेन्दु की कार्यसमाप्ति या आलोचना पर भी ध्यान रखना होगा। वे लिखते हैं—

"यद्यपि हिन्दी भाषा में दस-बीस नाटक बन गये हैं परन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा के नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बढ़ते जायँगे। और अपना संपत्तिशालिनी बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षय रत्न-भांडार की सहायता से हिंदभाषा बड़ी उन्नति करे।"

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि भारतेन्दु पश्चिमीय नाटकीय शैली और पश्चिमी नाटकों से परिचित थे, परन्तु उनका अधिकांश ज्ञान बंगला से आया था जिसका नाट्य-साहित्य पश्चिम के अनुकरण से इस समय तक विशेष रूप से समृद्ध हो चुका था।

ऊपर हमने जो लिखा है उससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु पूर्व और पश्चिम की नाटक शैलियों से भलीभाँति परिचित थे और

उन्होंने उनके मिश्रण का सज्ञान प्रयत्न किया है। यद्यपि कुछ आलोचक ऐसा नहीं मानते—

"नाट्यशास्त्र में नाटक लिखने या अभिनय करने के लिए नियमों का निर्धारण किया गया है उनसे भारतेन्दु पूर्णतया परिचित नहीं जान पड़ते। यूरोप के नवीन ढंग के नाटकों का प्रचार उनके समय में होगया था, पर उनकी कला के संबंध में भी उनका ज्ञान उतना ही था जितना एक पढ़े-लिखे नाटक देखनेवाले का हो सकता है। उसमें भी उनकी विशेषता नहीं थी। तिसपर भारतेन्दु की शिक्षा साधारण थी + + +"

"इसलिए नाट्यकला के अनुसार उनकी कृतियों का विवेचन करना व्यर्थ है + +"

"जान पड़ता है कि भारतेन्दु न तो भारतीय नाट्यशास्त्र से पूर्णतया परिचित थे, न युरोपीय नाट्यशास्त्र का उनको व्यावहारिक या शास्त्रीय ज्ञान था।"

('भारतेन्दु ग्रंथावली' की प्रस्तावना पृ० ५३, ५४
बाबू श्यामसुन्दरदास)

परन्तु ऐसा कहकर हम वास्तव में भारतेन्दु के साहित्य के ऊपर विशेष रूप में कठोर सिद्ध होंगे। यद्यपि 'नाटक' का रचनाकाल संवत् १६४० ई०, जब वे साहित्यरचना समाप्त कर चुके थे, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने उस पुस्तक में जो लिखा है उससे वे रचनाकाल (१८६६—६२) में थोड़ा-बहुत भी परिचित नहीं थे। वास्तव में भारतेन्दु के नाटकों की समीचीन समीक्षा न उनके "नाटक ग्रन्थ" के आधार पर होगी, न यह कह कर छुट्टी मिल सकती है कि वे यह-वह कुछ नहीं जानते थे। इस समीक्षा के लिए हमारे उपकरण होंगे—

१—भारतेन्दु की 'नाटक' रचना।

२—भारतेन्दु की कवि प्रतिमा।

३—उनका बँगला नाटक और रंगमञ्च का ज्ञान।

४—पारसी कंपनियों में खेले जानेवाले नाटकों के प्रति उनका विरोध।

५—पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-रचना-शैली के सम्मिश्रण पर बल।

६—उनके समय के अँग्रेजी नाटकों के अनुवाद जिनसे वे परिचित थे, विशेषत: शेक्सपियर के नाटक।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपना सिद्धान्त मुख्यत: उनके संस्कृत से अनुवादित ग्रन्थों 'कर्पूरमञ्जरी', 'मुद्राराक्षस' या भावानुवाद "सत्यहरिश्चन्द्र" पर आधारित किया है; परन्तु इन रचनाओं में हरिश्चन्द्र के हाथ बँधे हुए थे, यह भी समझ लेना आवश्यक है। इस तत्त्व को न समझकर ही लिखा गया है—"सारांश यह कि भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में न तो भारतीय पद्धति का अनुकरण किया है और न यूरोपीय पद्धति का। दोनों की कुछ-कुछ बातों का यथारुचि, पारसी नाटक कम्पनियों और आधुनिक बँगला नाटकों के अनुकरण पर उपयोग किया है। यह उपयोग यदि किसी सिद्धांत पर होता अथवा किसी नई पद्धति को प्रचलित करने के उद्देश्य से किया जाता तो अवश्य कुछ महत्त्व का हो सकता था। पर साथ ही यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव में भारतेन्दु जी की कृतियों से ही हिन्दी साहित्य में दृश्य काव्यों का आरंभ होता है। ऐसी अवस्था में इनके नाटकों की सूक्ष्म विवेचना करना और उनमें वर्तमान काल की उन्नत जातियों के परम प्रसिद्ध नाटकों के गुण ढूँढ़ना विकासवाद के सिद्धांत को सर्वथा उलटने का प्रयत्न है। × × × हमें इन नाटकों की समीक्षा उनके निर्माणकाल पर ध्यान रखकर करनी चाहिए। जो कुछ आक्षेप या दुःख की बात है, वह यही कि संस्कृत के कई नाटकों के अनुवादक होने पर भी भारतेन्दु जी ने

अपने परम उन्नत नाट्यशास्त्र के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया।"

(प्रस्तावना, वही)

परन्तु उपर्युक्त वीथिका में रखकर भारतेन्दु नाटकावली पढ़ने से इसके विपरीत ही सिद्ध होता है। अन्य विद्वानों ने इस बात को समझा है—"प्राचीन आचार्यों के नियम उन्होंने ग्रहण किये हैं, परन्तु अंधभक्ति के साथ नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का भी उपयोग किया है। बहुत से अप्रयुक्त प्राचीन नियम छोड़ देने और एतत्काल में प्राचीन नियमों के अशास्त्रीय प्रचलित अर्थ ग्रहण करने में उन्होंने कोई हानि नहीं समझी। संस्कृत में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का जो स्थान है, वही हिंदी में भारतेन्दु के नाटक का है।" "भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटकों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—पहला, सामाजिक और राजनैतिक नाटक जैसे भारतदुर्दशा, नीलदेवी आदि। दूसरा, पौराणिक नाटक, जैसे सतीप्रताप। तीसरा, वे नाटक जिनका मूलाधार प्रेमतत्त्व है, जैसे चन्द्रावली। ये तीन भाग तीन उपन्यासों के समान हैं, जिनसे तीन विभिन्न धाराएँ प्रवाहित हुई—सामाजिक और राजनीतिक, पौराणिक और प्रेम संबन्धी। पहले दो का साहित्यिक मूल्य कम है, यद्यपि संख्या में वे तीसरे से बहुत अधिक हैं। उनके लेखक धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक कथानकों को कई अंकों में विभाजित कर, उसके परिणाम को अंत में रखकर अपने कर्तव्य की इति श्री समझ बैठे हैं। उनकी रचनाओं में कलात्मकता और विचार गाम्भीर्य के दर्शन नहीं होते। प्रेम संबन्धी कृतियों में रस, अलंकार आदि साहित्यिक तत्त्वों का समावेश है।"

(डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिंदी साहित्य पृ० ११०, १११)।

हरिश्चंद्र के समय में हिंदी रंगमंच की जो अवस्था थी, वह भी उनकी साहित्य की वीथिका के लिए विचारणीय है—"मुग़ल-कालीन भारत में नाट्यकला का ह्रास हो गया था। और उसका जो रूप मिलता था। वह रासलीला, रामलीला और स्वाँग के रूप में था। वह भी अत्यंत शोचनीय अवस्था में था। लीला-मण्डलियाँ घूम-घूम कर धार्मिक एवं पौराणिक लीलाएँ दिखाती फिरती थीं। उनके अभिनय में नाच, गाने, चमकीली वेषभूषा, मज़ाकिया पार्ट, trapdoor (ट्रैपडोर) आदि की प्रधानता रहती थी। पुरुषों को ही स्त्रियों का रूप धारण करना पड़ता था। उनका कोई नियम नहीं था और न बनाया ही जा सकता था। और हिंदी नाटकों के अभिनय के लिए जो रंगमञ्च अपनाई गई उसकी वेषभूषा, trapdoor (ट्रैपडोर) और विषयों की दृष्टि से उससे संबन्ध जरूर था, परन्तु उसकी उत्पत्ति कहीं और हुई थी। उसके पर्दे, दृश्य, व्यवस्थापना, प्रबन्ध आदि में अंग्रेजी रंगमञ्च का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। यहाँ पर इस बात का संकेत कर देना भी आवश्यक है कि हिन्दी शिक्षित समाज पारसी रङ्गमञ्च को नहीं, वरन उस पर दिखाई गई अश्लील बातों और अकलात्मक प्रदर्शन को दूषित समझता था।" (वही, पृ० १२६) 'नाटकों की जैसी कुछ दुर्दशा उन दिनों हो गई थी, उसको देखकर साहित्यरसिकों को बड़ा दुःख होता था। कोई भी भला आदमी नाटक का नाम लेता तो उसकी बड़ी चर्चा हो जाती थी। वह निंदा का पात्र बन जाता था। वास्तव में नाटक के इस अपयश का दोष नाट्यशालाओं में काम करने वाले अज्ञानी और नाट्यशास्त्र से अनभिज्ञ मनुष्यों पर था। उन दिनों दो-तीन पुरुषों की बातचीत करा देना अथवा रंगभूमि पर हाथ पैर हिला देने भर को लोग अभिनय कहते थे। पारसी कम्पनियों के इंद्रसभा आदि शतरंजी मशाल वाले भ्रष्ट खेलों का अधिक प्रचार हो

जाने के कारण नाटक और उसका अभिनय घृणा की वस्तु बन गये थे।" (वही, पृ० १११) वास्तव में भारतेन्दु ने अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में उस प्रारंभिक काल में नाटकों का साहित्य उपस्थित किया, जब न रङ्गमञ्च था, था भी तो भ्रष्ट, न जनता में साहित्य के इस प्रकार के प्रति कोई उत्साह था। वे अपनी प्रेरणा के लिए संस्कृत साहित्य, धर्म और जातीय एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों के पास गये। संस्कृत साहित्य में रचे नाटक उस समय उपादेयता को पीछे छोड़ गये थे, अब उनमें से कुछ श्रेष्ठ नाटकों का अनुवाद ही रह गया था, जिसे "श्रव्य गद्यकाव्य" (नाटक) के रूप में ग्रहण किया गया। भारतेन्दु ने संस्कृत से अनुवाद कर नाटकों के मूल स्रोत की ओर नाटककारों का ध्यान दिलाया, परंतु इससे अधिक वे कुछ नहीं कर सके। धर्म की प्रेरणा उन दिनों बहुत कुछ क्षीण हो गई थी, विशेषकर उस प्रकार के भावना-प्रधान धर्म की जिसके दर्शन "चंद्रावली" में होते हैं। धर्म की जो नवीन धाराएँ चलीं, उनमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रधानता थी, और इसलिए 'चंद्रावली' की परम्परा नहीं चली। आगे के नाटक साहित्य में विशेष मौलिकता राजनीतिक, सामाजिक और परिहास नाटकों में मिलती है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटकों में कविता का विशेष स्थान है। उनके पहले अप्राप्य, अपूर्ण और अप्रकाशित नाटक पर उनके कवित्व और बङ्गाली रंगमञ्च का प्रभाव है। यह १६२२ सं० (सन् १८६४-६५) की रचना है—"इसी समय इनकी रुचि गद्य-पद्यमय कविता की ओर झुकी। वह एक 'प्रवास' नाटक लिखने लगे।" (राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० ३५६) उनके इस गद्य-नाटक में सबसे उत्कृष्ट चंद्रावली है। उसे हम अँग्रेजी के 'Lyrical and Poetic Drama' (काव्यमय गीति-नाटक) की श्रेणी में रख सकते हैं। स्वयं हरिश्चंद्र को अपने तीन नाटक

विशेष प्रिय थे—सत्यहरिश्चंद्र, चंद्रावली और भारतदुर्दशा। इससे जान पड़ता है कि वे अपने ग्रन्थों के गुण-दोष को भी भली-भाँति समझते थे। इस समस्त नाटक में शृङ्गार-रस का वियोग पक्ष ही प्रधान है, केवल अंत में मिलन होता है। श्रीकृष्ण की बालसुलभ-चपलता, सौन्दर्य और गुण देखने से पूर्वराग उत्पन्न होता है। देखादेखी होने पर यह पूर्वराग प्रेम में परिणित हो जाता है। प्रेम का आधिक्य हो जाने पर उसे छिपाना कठिन हो जाता है। किस प्रकार अनुराग की वृद्धि हुई—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, उद्वेग, उन्माद—विरह-वर्णन-विकास को शास्त्रीय ढङ्ग से ग्रहण किया गया है। जड़ता-भाव का एक सुन्दर चित्र देखिये—

> छरीसी छकीसी जाड़ भईसी जकीसी घर
>
> हरीसी बिकीसी सो तो सबही घरी रहै
>
> बोलेतें न बोलै दृग खोलै ना हिंडौलै बैठि
>
> एकटक देखै सो खिलौना सी धरी रहै

इस प्रकार सारी नाटिका में शृङ्गार शास्त्र को ही गद्य-काव्य का रूप दे दिया गया है। इसीलिए चरित्र-चित्रण पर जरा भी आग्रह नहीं है। जहाँ कवि का ध्येय ही काव्यमय हो—

> राधा चंद्रावली कृष्ण ब्रज जमुना गिरिवर मुखहि कहौ री
>
> जनम-जनम यह कठिन प्रेमव्रत हरीचंद इकरस निबहौ री

यहाँ चरित्र-चित्रण का अनुरोध कहाँ तक होगा? विद्यासुन्दर की भी यही परिस्थिति है। इसका मूल आधार केवल इतना है कि एक राजकुमारी विद्या का उसके सहपाठी सुंदर से प्रेम हो गया था, जिसका अंत वियोगान्त में हुआ था। अंत में युगलमिलन हो जाता है। इस प्रकार प्रेमी की तपस्या ही यहाँ भी काव्य का विषय है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सत्यहरिश्चन्द्र और नीलदेवी

विशेष सफल है। इनमें से सत्यहरिश्चन्द्र के लगभग सभी पात्रों के चरित्रों की रूपरेखा पहले ही प्राप्त थी। यहाँ मुख्य चरित्र हरिश्चन्द्र का है जिसमें भारतेन्दु ने अपना ही प्रतिबिंब देखा है। इसी से चित्रण Type के चित्रण की भाँति हुआ है, उसमें वैयक्तिकता नहीं आ सकी है। चरित्र की भित्ति का यह आदर्श वाक्य है—

चंद्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार
पै दृढ़ श्रीहरिचंद्र को, टरै न सत्यविचार

प्रतिविरोधी पात्र विश्वामित्र यहाँ भी क्रोधी ब्राह्मण ही चित्रित हुए हैं—यद्यपि कहीं कहीं भारतेन्दु ने इस पात्र की कठोरता और अस्वाभाविकता को हल्का करने की भी चेष्टा की है, जैसे काशी में दुःखी हरिश्चंद्र को देखकर विश्वामित्र 'स्वगत' कहते हैं—

"...इसके सत्य, धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राजभ्रष्ट हो चुका पर जब तक इसे सत्यभ्रष्ट न कर लूँगा, तब तक मेरा संतोष न होगा। (आगे देखकर) अरे यही दुरात्मा (कुछ रुक कर) हरिश्चंद्र है? (प्रकट) रे आज महीनें में के दिन बाकी है? बोल कब दक्षिणा देगा?"

नारद का परम्परागत कलहप्रिय चरित्र यहाँ नहीं ग्रहण किया गया, उनका चित्रण ऋषिवत् है। इस प्रकार की चरित्र-चित्रण की मौलिकता उनके अनुवाद-नाटकों में जगह-जगह मिलेगी। मौलिक नाटकों में तो यह विशेष है। नीलदेवी में सूर्यदेव सच्चा राजपूत चित्रित किया गया है। प्रतिनायक अब्दुरशरीफ खाँ का चित्रण भी सुन्दर है। वह सूर्यदेव को कैद कर लेता है और वह वहीं कैद में मार डाला जाता है। जब राजा सूर्यदेव के पुत्र कुमार सोमदेव और नीलदेवी को सूचना मिलती है, तो कुमार युद्ध की घोषणा करता है, परन्तु रानी नीलदेवी उसे इस कार्य से विरत करती है—अंत में वह 'शठं प्रति शाठ्यम् कुर्यात्' नीति

का अनुसरण करती है और षड्यंत्र द्वारा पति की मृत्यु का बदला लेती है। जैसा कथानक से स्पष्ट है, कथा-वस्तु अत्यंत सुगठित है और पात्रों, विशेषकर, नीलदेवी के चित्रण के लिए अच्छा अवकाश है। भारतेन्दु ने इसका उतना उपयोग नहीं किया, जितना चाहिये, परन्तु वास्तव में आदि नाटककार से उससे अधिक कुछ करने का अनुरोध अवांछनीय है, जितना उससे संभव हो सका है। "भारत-दुर्दशा" रूपक (Allegory) नाटक है, अतः उसमें चरित्रचित्रण की विशेष गुञ्जाइश ही नहीं है। फिर भी 'टाइप' वाला चित्रण तो यहाँ मिलेगा ही। अंतिम समय में भारतेन्दु की चरित्र-चित्रण पर अधिक पकड़ हो गई है यह "प्रेमयोगिनी" के अध्ययन से पता चलता है। उन्होंने कथावस्तु समसामयिक समाज से ली थी और उसे यथार्थवाद की भित्ति दी थी। ऐसी कथा में चरित्रों में वैयक्तिकता का प्रादुर्भाव विशेष रूप से होता है। खेद है, कि यह नाटिका अपूर्ण रह गई और उसका समसामयिक और परवर्ती नाटक-लेखन-कला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यदि यह नाटिका पूर्ण हो जाती, तो कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, सभी की ओर नाटककारों की दृष्टि जाती और यथार्थवादी नाटकों की परम्परा हरिश्चंद से ही शुरू हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु ने नाटक के विभिन्न अंगों में अच्छा नैपुण्य दिखलाया उस समय के बंगला नाटक भी उनके नाटकों से विशेष उन्नत न ठहरेंगे।

भारतेन्दु के कुछ नाटक ऐसे हैं जिनमें हमें उनकी राष्ट्रीयता और सुधार प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इनमें वे सामयिक जीवन के आलोचक के रूप में हमारे सामने आते हैं। ये नाटक संख्या में पाँच हैं—भारतजननी, भारत-दुर्दशा, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम् और प्रेमयोगिनी। 'भारतजननी'

और 'भारत-दुर्दशा' रूपक की श्रेणी में आते हैं। 'भारतजननी' बंगला 'भारतमाता' की छाया पर स्वतंत्र रचना है। 'भारत-दुर्दशा' भी इसी ढंग की रचना है भारतेन्दु ने इसे नाट्यरासक वा लास्यरूपक कहा है। 'भारतजननी' में सूत्रधार के मुँह से वे कहलाते हैं—"भारतभूमि और भारत-संतान की दुर्दशा दिखाना ही इस भारतजननी की इतिकर्तव्यता है और आज जो यह आर्यवंश का समाज यह खेल खेलने को प्रस्तुत है उसमें से एक मनुष्य भी यदि इस भारतभूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करै तो हमारा परिश्रम सफल है।"

इससे पता चलता है कि भारतेन्दु के मर्मस्थल पर कहाँ चोट लगी थी और वे देश के कितने बड़े हितैषी थे। कथा हम अन्य स्थान पर प्रसंगगत: कह चुके हैं। जब भारतमाता के कहने पर पहला पुत्र महारानी विक्टोरिया को 'त्राहिमान त्राहिमान' कहता है तो एक साहब प्रवेश कर उसकी भर्त्सना करता है, परन्तु दूसरा आकर उसे डाँटता है और भारतमाता को सान्त्वना देता है। पहला साहब यहाँ का स्थानीय अधिकारी है, दूसरा इंगलैंड की प्रजा है। स्पष्ट है कि भारतेन्दु छोटे अंगरेज कर्मचारियों से रुष्ट हैं, परन्तु उन्हें विश्वास है कि ब्रिटेन जन-समाज भारत का हितू है और उसी की ओर मुख कर धैर्य धारण करना चाहिए। 'भारत-दुर्दशा' में म्रियमाण भारत श्मशान में घूम रहा है, निर्लज्जा और आशा बेहोश होने पर भी उसे जिलाए रखती है। बेचारे भारत पर 'भारतदुर्दैव' का आक्रमण है—यह दुर्दैव काल, मँहगी, रोग, अतिवृष्टि, फूट-कलह, आलस, हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य, कायरता, खुशामद, टैक्स आदि का प्रतीक है। यह भारत की आशा और ब्रिटेन-भक्ति (राजराजेश्वरी पर भरोसा) की जड़ खोद रहा है। जो पढ़े-लिखे लोग मिलकर देश सुधारना चाहते हैं उन्हें खिले के

हाकिम इसी के कहने पर डिसलाइलटी से पकड़वा माँगते हैं। दुर्दैव के मित्र खिताब पाते हैं। दुर्दैव का फौजदार सत्यानाश है, इसके करतब सुनिये—

"भारत-दुर्दशा— किस किसने क्या किया है ?

सत्या० फौ०— महाराज ! धर्म ने सब के पहिले सेवा की।

रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन माँहिं घुसाए
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए
जाति अनेक करी नीच अरु ऊँच बनायो
खान-पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब
बालकपन में ब्याहि प्रीतिबल नास कियो सब

इत्यादि

भा० दु०—आहा ! हा हा ! शाबास ! हाँ, और भी कुछ धर्म ने किया ?

सत्या० फौ०—हाँ महाराज

अपरस सोल्हा छूत रचि भोजन प्रीति छोड़ाय
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय

भा० दु०—और भी कुछ ?

सत्या० फौ०—हाँ,

रचि कै मत वेदांत को, सब को ब्रह्म बनाय
हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय

महाराज, वेदांत ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गये। किसी को इतिकर्तव्यता बाक़ी ही न रही। ज्ञानी बनकर ईश्वर के विमुख हुए, रूक्ष हुए, अभिमानी हुए, और इसी से स्नेह-शून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं तो देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ ! बस, जय शङ्कर की !

भा० दु०—अच्छा, और किस किसने क्या किया ?

सत्या० फौ०- महाराज, फिर संतोष ने भी बड़ा काम किया। राजा-प्रजा सब को अपना चेला बना लिया। अब हिंदुओं को खाने मात्र से काम। राज न रहा, पेनशन ही सही। रोजगार न रहा, सूद ही सही। वह भी नहीं, तो घर ही का सही, 'संतोषं परमं सुखं', रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं। उद्यम की ओर देखते नहीं। निरुद्यमता ने भी संतोष की बड़ी सहायता की। इन दोनों को बहादुरी का मेडिल जरूर मिले। व्यापार को इन्हीं ने मार गिराया।

भारत० दु०—और किसने क्या किया ?

सत्या० फौ०—फिर महाराज जो धन की सेना बची थी, उसको जीतने को भी मैंने बड़े बाँके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुश्मन की फौज तितिर-बितिर कर दी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चंदे के ऐसे बम के गोले चलाए कि "बम बोल गई बाबा की चारों दिसा" धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना-बनाकर मूँड़ लिया। एक तो खुदी यह सब बछिया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया, बराबरी का झगड़ा उठा, धाँय-धाँय गिनी हुई, वर्णमाला कंठ कराई गई (यहाँ उपाधियों पर व्यंग है), बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।

भा० दु०—और भला कुछ लोग छिपाछिपाकर दुश्मनों की ओर भेजे थे ?

सत्या०—फौ० हाँ, सुनिए। फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता इन एक दरजन दूती और दूतों को शत्रुओं की फौज में मिला कर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गये। फिर अंत में भिन्नता गई। इसने सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना, पीना एक-एक योजन पर अलग-अलग कर दिया। अब आवें बचा ऐक्य! देखें आ ही के क्या करते हैं!

भा० दु०—भला भारत का शस्य नाम का फौजदार अभी जीता है कि मर गया? उसकी पलटन कैसी है?

सत्या० फौ० महाराज, उसका बल तो आपकी अतिवृष्टि और अनावृष्टि नामक फौजों ने बिलकुल तोड़ दिया। लाही, कीड़े, टिड्डी और पाला इत्यादि सिपाहियों ने खूब ही सहायता की; बीच में नील ने भी नील बनकर अच्छा लंकादहन किया।

भा० दु०—वाह! वाह! बड़े आनन्द की बात सुनाई।"

भारतेंदु उपाय भी सुझाते हैं—सार्वजनिक सभा की स्थापना करना, कपड़ा बीनने की कल मँगाना, हिन्दुस्तानी कपड़ा पहनना। भारतेन्दु की हृदय-व्यथा 'देशी' के कथनों में प्रगट हुई है—

१ देशी—(आप ही आप) हाय! यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एकचित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब हो जायगा।

एडीटर० आप लोग नाहक इतना सोच करते हैं। हम ऐसे ऐसे आर्टिकिल लिखेंगे कि उसके देखते ही दुर्दैव भागेगा।

कवि—और हम ऐसी ही ऐसी कविता लिखेंगे।

१ देशी—पर उनके पढ़ने का और समझने का अभी संस्कार किसको है?

सब हितचिंतक दुर्दैव के चक्र में आकर डिसलाइलटी द्वारा पकड़े जाते हैं और भारतभाग्य आत्मघात कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक पर नैराश्य की गंभीर छाया है। इसमें हमें इन विषम परिस्थितियों का आभास मिलता है जिनमें उन्नीसवीं शताब्दी के भारत-हितचिंतकों ने काम किया है।

'विषस्य विषमौषधम्' एक भाण है जिसमें देशी राज्यों के अनाचार और व्यभिचार पर निराशा प्रगट की गई है और सरकार के हस्तक्षेप को लाचार होकर स्वीकार किया गया है। देशी राज्यों की परवशता उस समय सभी चिंतनशील व्यक्तियों को खल रही थी। भारतेन्दु भण्डाचार्य से कहलाते हैं—

"यह अनर्थ वहाँ है × × इत्यादि। उन्हें दुख है कि मल्हार राव हिन्दू है—"हाय, मुहम्मदशाह और वाजिदअली शाह तो मुसलमान होके छूटे पर मल्हारराव का कलंक हिन्दुओं से कैसे छूटेगा। विधवा-विवाह तक कराया चाहते हैं परन्तु इसने सौभाग्यवती विवाह निकाला। भला मुसलमान होता तो तिलाक़ दिलवा के भी हलाल कर लेता। पर तिलाक कहाँ। × × सच है, यह ऐसे ही हज़रत थे। हमारी सरकार के विरुद्ध जो कुछ कहे, वह झख मारे।"

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में समाज के ४ प्रमुख छत्र-धारियों की पोल खोली गई है। १ पुरोहित (ब्राह्मण), २ मंत्री, ३ राजा, ४ गुरु। समाज के सारे स्तर बिगड़े हैं, यह व्यंग्य है, सब खोखले हैं। यह शुद्ध नास्तिक है। "केवल दंभ से यज्ञोपवीत पहरे हैं" (ब्राह्मण) 'हमने कभी स्वामी का भला नहीं किया, केवल चुटकी बजाकर हाँ में हाँ मिलाई, मुँह पर स्तुति, पीछे निंदा, अपना घर बसाने से काम, स्वामी चाहे चूल्हे में पड़े × ×' (मंत्री) 'कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत न किया होगा पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आईं उनको सर्वदा तकते रहे; महाराज, इन्होंने अनेकों को

कृतार्थ किया है और समय तो मैं श्रीरामचंद्र जी का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम, तुम जानकी, मैं कृष्ण, तुम गोपी (आचार्य), इत्यादि।

'प्रेमयोगिनी' अपूर्ण हो रही। यह हिन्दी की पहली यथार्थवादी नाटिका है। इसमें मंदिरों के विलास-वैभव और कथित भक्तों के अनाचार का चित्रण है। भारतेन्दु स्वयं वैष्णव भक्त थे, इससे वैष्णव भक्ति और वैष्णव धर्म के अंधकारपूर्ण पहलू को इस तरह नंगा कर देना बड़े साहस का काम था। 'मंदिर के मिसिर जी, झपटिया आदि की बातचीत बड़ी स्वाभाविक है। उनकी बोली में ग्रामीणता का पुट है। पहले ही दृश्य का आरंभ अत्यन्त नाटकीय है जैसे उनके किसी और नाटक में नहीं है। झपटिया मंदिर में सबेरे-सबेरे आकर अपने को अकेला पाकर और किसी के न आने की शिकायत करता है। तब तक आँख मलते हुए मिश्रजी आते हैं। किसी विशेष पात्र के चरित्र-विकास की चेष्टा यहाँ नहीं है। भारतेन्दु ने एक भीड़ का, एक चहल-पहल का, जिसमें बहुत तरह के लोग और बहुत तरह की बोलियाँ मिल गई हैं, चित्र खींचा है। तीसरे दृश्य में मुग़ल-सराय स्टेशन का दृश्य वैसा ही मनोरंजक है। नाटक के निर्माण में भारतेन्दु ने परिवर्तन किया है। उसे बड़े या छोटे अंकों में न बाँट कर उन्होंने प्रत्येक अंक को दृश्यों में बाँट दिया है। पहले वह संस्कृत परिपाटी के अनुसार अंक में दृश्य न रखते थे। अंक वास्तव में एक लंबा दृश्य मात्र होता था।' ('भारतेन्दु युग' पृ० ६६) भारतेन्दु के अधिकांश नाटक यथार्थवाद से दूर जा पड़े हैं, वे कम-बेश आदर्शवादी हैं। 'प्रेमयोगिनी' में आदर्शवाद पर यथार्थवाद ने विजय पा ली है। "यह खेद की बात है कि भारतेन्दु इस सुन्दर नाटक को पूरा न कर पाये" (वही, पृ० ७०)।

भारतेन्दु-युग के नाटककारों में भारतेन्दु का क्या स्थान था,

यह भी महत्त्वपूर्ण है। "नाटकीय दृष्टि से अनेक लेखकों की रचनाएँ अधिक पूर्ण हैं। परंतु मनोरंजन के विचार से भारतेन्दु से बाजी मार ले जाना जरा कठिन है। जैसी सरल कविता और गीत उनके नाटकों में हैं, वैसे और किसी के नाटकों में नहीं हैं। राधाचरण गोस्वामी का व्यंग अधिक सुथरा और उनके नाटक अधिक सुनिर्मित हैं; परंतु भारतेन्दु जनता को रिझाना जानते थे, रिझाने के साथ सुधार के लिए उसे उत्तेजित करना भी जानते थे, उनके नाटकों में हमें एक महान नाटककार के नहीं, एक महान् जन-साहित्यकार के दर्शन होते हैं। उन्होंने बड़ी-बड़ी मनोवैज्ञानिक उलझनें नहीं खड़ी कीं; उनके चरित्र-चित्रण में अध्ययन करने के लिए मोटी-मोटी गुत्थियां नहीं हैं। परंतु × × चूरनवाले के लटके से लेकर सत्य हरिश्चंद्र में नरमुंड पर राजा हरिश्चंद्र के विचार तक अनेक भावों के तार वह झंकृत कर सके हैं। उनमें सफल नाटककार का यह गुण है कि पर्दे पर उनकी उँगली कभी झूठी नहीं पड़ती। वह प्रत्येक भाव को प्रत्येक पात्र को वाणी देने में समर्थ हैं।" (वही पृ० ७०, ७१)

इस कथन से सहमति प्रकट करने के साथ ही हम भारतेन्दु के नाटकों के अध्ययन को समाप्त कर देते हैं।

७

मासिकपत्र, समाचारपत्र और निबंध

१९वीं शताब्दी ऐसी शताब्दी है जिसमें शिक्षा, कला, धर्म, राजनीति—लगभग प्रत्येक क्षेत्र में हमारी पूर्वी विचार-धारा और पश्चिमी आदर्शों का संघर्ष हुआ। एक नई सभ्यता, नई प्रेरणा से हमारा हिन्दी-प्रदेश परिचित हो रहा था। फलस्वरूप, इस प्रदेश के नेताओं के दो वर्ग हो गये। एक वर्ग पुरातन से चिपटा रहा, दूसरे वर्ग ने पश्चिमी झंडे को ऊँचा किया। भारतेन्दु इन दोनों धाराओं के संगम पर खड़े हैं। उनमें आधुनिक और पुरातन जैसे घुल-मिलकर एक हो गये हों, फिर भी उनमें आधुनिक चेतना पुरा-चेतना की अपेक्षा अधिक थी।

जैसा होना चाहिए था, इस संघातकाल में 'प्रचार' का बाहुल्य रहा। इसे हम प्रचारयुग या "प्रोपेगेन्डा युग" कह सकते हैं। पर वस्तीं उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग सारे साहित्य से प्रचार की गंध आती है। इस प्रचार के माध्यम कितने ही थे, साहित्य केवल एक माध्यम था। अनेक अन्य माध्यमों में कुछ थे—सभाएँ, समाज, क्लब, रंगमञ्च, व्याख्यान, व्यक्तिगत प्रचार और पत्र (प्रेस)। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस युग की बहुमुखी प्रवृत्तियों में से साहित्य एक प्रमुख प्रवृत्ति मात्र था, इसी से केवल साहित्य भर का अध्ययन करके उस युग को समझा नहीं जा सकता।

१८२८ में ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई थी और भारतेन्दु के समय (१८५०) तक हिन्दी प्रदेश के कई प्रधान नगरों में उसकी शाखाएँ फैल गई थीं। हिन्दी प्रांत में ब्रह्मसमाज के प्रचार का केन्द्र काशी था। परन्तु ब्रह्मसमाज का आन्दोलन

मुख्यत: बंगाल का आन्दोलन था, उसका केन्द्र कलकत्ता हिन्दी-प्रदेश के बाहर था, अत: यहाँ उसका इतना व्यापक और गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ा जितना बंगाल में पड़ा। भारतेन्दु के समय (१८७५) में ही आर्य समाज की स्थापना हो गई और उनके अंतिम दश वर्षों में विभिन्न प्रमुख नगरों से आर्य समाजी पत्र प्रकाशित होने लगे थे। इनमें स्थानीय वादविवादों और शास्त्रार्थों को स्थान मिलता और दयानंद स्वामी एवं उनकी परोपकारिणी सभाओं की प्रगति का पता चलता रहता। हिन्दी-प्रदेश में अन्य धर्म समाज भी थे। १८७३ ई० में भारतेन्दु ने स्वयं 'हिन्दी-समाज' की स्थापना की। उन्होंने इस समाज के द्वारा अपने समय के वैष्णव मत का परिष्कार करके उसे लोकोपयोगी बनाने की चेष्टा की और इसी उद्देश्य से उन्होंने 'भगवद्तोषिणी' नाम की एक पत्रिका भी निकाली जो कुछ महीने निकल कर बंद हो गई।

उस समय हिन्दी के अभ्युत्थान एवं प्रचार पर लेखकों और नेताओं की दृष्टि अधिक थी। अनेक ऐसी सभाएँ भी खोली गईं, जिनका उद्देश्य हिंदी भाषा और साहित्य का प्रचार था। १८७६ ई० में प्रयाग में हिंदी वर्द्धिनी सभा की स्थापना हुई जिसने एक वर्ष बाद भारतेन्दु की आग्रह से "हिंदी प्रदीप" पत्र निकाला। इस समय की अन्य सभाएँ जो हिंदी की उन्नति में सहायक हुईं हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्यसभा, सम्पादक समाज, भाषा-संवर्द्धिनी, मातृभाषा प्रचारिणी सभा थी। हिंदी कविता की वृद्धि के लिए भी कुछ सभाएँ स्थापित की गईं थीं—कविकुल कौमुदी सभा (१८७५), कवितावर्द्धिनी सभा (१८४८), कविसमाज आदि। अनाथरक्षिणी सभा, ब्रह्मावर्त वर्षिणी सभा, तुलसी स्मारक सभा, मित्रसमाज, गोरक्षिणी सभाएँ—ये कुछ अन्य सभाएँ थीं जिनका उद्देश्य समाज था। इन सबने बाद में पत्रकला को ग्रहण किया और उसे विकसित किया।

ऊपर जो कहा गया है, इससे हिन्दी की चतुर्दिक जागृति और प्रचारभावना पर प्रकाश पड़ेगा। इन दोनों के लिए समाचार पत्रों और मासिक पत्रों की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति करनेवालों में श्री भारतेन्दु अग्रगण्य थे। यद्यपि समाचार पत्र और पत्रकला का जन्म इसके कई वर्ष पहले हो गया था, उसको परंपरा दृढ़ करने और कला विकसित करने का मुख्य श्रेय भारतेन्दु को ही है। हिन्दी का पहला समाचार पत्र "उदित मार्तंड" १८२६ ई० में कलकत्ता से निकला था। यह साप्ताहिक था, परन्तु एक वर्ष के बाद ही बंद हो गया। हिन्दीप्रदेश के हिन्दी का पहला समाचार पत्र बनारस अखबार" (१८४४)। था यह भी साप्ताहिक था। भारतेन्दु ने जब पत्रकला के क्षेत्र में प्रवेश किया तो उस समय तक दो दर्जन हिन्दी और बहुभाषी पत्र निकल चुके थे। १८६७ में भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' प्रकाशित की और वह इतनी लोकप्रिय हुई कि उससे बाद में हिन्दी पत्रों की शृङ्खला बँधी रही।

'कविवचनसुधा' काशी में प्रकाशित होने वाला तीसरा पत्र था, पहले 'बनारस अखबार' (१८४४ और 'सुधाकर' (१८५०) प्रकाशित हो चुके थे। पहले-पहल यह मासिक पत्र था और इसमें प्राचीन सामाजिक कवियों की रचनाएँ पुस्तिका रूप में प्रकाशित होती थी। कुछ समय के बाद वह पाक्षिक हो गया, और उसमें राजनीति और समाज-संबंधी निबन्ध छपने लगे। अंत में यह साप्ताहिक हो गया। गवर्नमेंट इसकी १०० प्रतियाँ लेती थी। यू० पी० गजेट से पता चलता है कि यह २५० छपता था। इससे १५० प्रतियाँ ही जनता में खपतीं थीं। परन्तु इस जमाने में तो ऐसे पत्र भी थे, जिनकी दो-चार प्रतियाँ ही जनता में पहुँचती थीं। शेष के लिए उन्हें सरकार का ही मुँह जोहना पड़ता था। भारतेन्दु ने इसमें एक पत्र छाप दिया। सुझानेवालों ने स्थानीय मजिस्ट्रेट को सुझाया कि इस पत्र में

आपको वेश्या बनाया गया है। फिर क्या था, गवर्नमेंट के लाड़िले भारतेन्दु उसके कोप-भाजन हो गये और प्रतियाँ लेना बन्द हो गया। परन्तु भारतेन्दु दबने वाले नहीं थे। उन्हें यह पत्र विशेष रूप से प्रिय था। अदम्य उत्साह से उसे कई वर्ष तक चलाया। १८८० ई० में उन्हें अर्थाभाव के कारण उसे रमाशङ्कर व्यास को सौंप देना पड़ा और शीघ्र ही उसके आदर्श वह न रहे जो हरिश्चन्द्र के थे। १८८५ ई० में जिस वर्ष भारतेन्दु का गोलोक-वास हुआ, यह पत्र भी सदा के लिए विदा हो गया।

पत्रकला में हरिश्चन्द्र का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न "हरिश्चंद्र मैगज़ीन" है (१८७३)। दूसरे वर्ष ही नये नाम से हमारे सामने आता है—'हरिश्चन्द्र चंद्रिका'। १८८० तक बड़े उत्साह से हरिश्चंद्र ने इसका प्रकाशन किया। और मासिक पत्रों के इतिहास में इसका स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। मुख्य पद अँग्रेज़ी में छपता था और उस पर लिखा रहता था—

"A monthly journal publishod in connection with Kavi Vachan Sudha, containing articlos on litorary scientific and religious subjects, antiquity reviows, dramas, history, novels, poetical selections, gosits, human wit."

इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु इस पत्र को "Miscellany" (सार्वविषयक) बना रहे थे, और उन्होंने इसकी क्रियाशीलता का क्षेत्र अत्यंत विशाल रखा था—"साहित्य, विज्ञान, धर्म-विषयों पर लेख, पुरातत्त्व, पुस्तक आलोचना, नाटक, इतिहास, उपन्यास पद्य, जप, हास-परिहास और व्यंग—"इतने विषयों की एक साथ कल्पना भी अभी नहीं हुई थी। भारतेन्दु के "मैगजीन" से 'सरस्वती'(१९००) तक मासिक पत्रों के विकास का एक ही सा इतिहास है, परन्तु इस कड़ी में सबसे प्रथम होने के कारण और सब से अधिक विस्तृत क्षेत्र ग्रहण करने के कारण यह पत्र विशेष

महत्त्व का है । इसे भी अर्थकष्ट के कारण अलग कर देना पड़ा । १८८० ई० में मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या इसे उदयपुर से प्रकाशित करने लगे और इसका नाम बदल कर "हरिश्चंद्रिका और मोहनचंद्रिका" हो गया । यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु इस पत्र की प्रगति से बहुत ही असंतुष्ट थे । अपने नाम का व्यर्थ उपयोग उन्हें खलता था । इससे खाली हाथ होते हुए भी १८८४ ई० में उन्होंने इसे "नवोदिता हरिश्चंद्र चंद्रिका" नाम से फिर काशी से प्रकाशित करना आरम्भ किया । दो संख्याएँ ही निकल पाई थीं कि उनकी मृत्यु हो गई । हरिश्चन्द्र के छोटे भाई गोपालचंद ने तीसरी प्रति निकाली, परन्तु इस पर पांड्या जी ने कहा कि यह पत्र भारतेन्दु ने हमें दे दिया था और दावा ठोकने को तैयार हो गये । अतएव, प्रकाशन बंद कर दिया गया ।

ऊपर के पत्र मुख्यतः पुरुषों के लिए थे । भारतेन्दु ने केवल स्त्रियों के लिए ही एक पत्र निकालने की क्रांतिकारी बात सोची और १८७४ ई० में 'बाला बोधिनी स्त्रीजनों की प्यारी' पत्रिका प्रकाशित हुई । पहले सरकार उसकी पर्याप्त संख्याएँ खरीदती थी, परन्तु 'पंच-रुष्ट' होकर उसने यह आर्थिक सहायता बंद कर दी और उसका चलाना असंभव हो गया । इन पत्रों के अलावा भारतेन्दु ने वैष्णवधर्म प्रधान एक पत्रिका 'भगवद्तोषिणी' भी प्रकाशित की परंतु वह एक वर्ष से अधिक नहीं चल सकी ।

भारतेन्दु के सब पत्रों और पत्रिकाओं में सब से महत्त्वपूर्ण 'कवि वचन सुधा' और 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका' है । भारतेन्दु की महत्ता और उनकी चातुरिक प्रगति के अध्ययन के लिए 'कवि वचन सुधा' की १८७३ से लेकर १८८० तक और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की १८७३ से लेकर १८८० तक की फाइलें अनिवार्य रूप से पढ़ी जानी चाहिए । इनका एक महत्त्व यह भी है कि

लगभग इस युग के सभी लेखकों ने इन पत्रों से ही लिखना शुरू किया और बाद को वे प्रसिद्ध साहित्यकार पत्रकार भी बने। इस प्रकार इन पत्रों ने पत्रकला के स्कूल का रूप ग्रहण किया। बालकृष्ण भट्ट (सं० हिन्दी-प्रदीप, १८७७), लाला सीताराम (सं० भारत-बन्धु), बदरीनारायण चौधरी (सं० आनन्द कादम्बिनी और नागरी नीरद), प्रतापनारायण (सं० ब्राह्मण १८८४), लाला श्रीनिवासदास (सं० सदादर्श), राधाचरण गोस्वामी (सं० भारतेन्दु), पं० रमाशंकर व्यास (जिन्होंने कुछ समय 'कवि वचन सुधा' का संपादन किया), बाबू बालेश्वरप्रसाद सं० काशी पत्रिका), आदि ने पहले-पहल अपने पत्रकार-जीवन को इन्हीं पत्रों से शुरू किया था। आगे चलकर भारतेन्दु ने इनमें लगभग हरएक को पत्रकार-जीवन में अनेक बार अनेक प्रकार की सहायता दी। उदाहरण-स्वरूप उन्होंने ही 'हिन्दी प्रदीप' का नामकरण किया और उसका मोटो बनाया। यही नहीं, 'कवि वचन सुधा' के ग्राहकों की सूची भी उन्हें दे दी जिसमें सपादक अपने पत्र को उन समाचार पत्र पाठकों तक पहुँचा सकें। उन्होंने रामकृष्ण वर्मा के 'भारत जीवन' (काशी १८८४) का भी नामकरण किया और उसके पहले वर्ष में बहुमूल्य सहायता और सम्मति प्रदान की। लाहौर जैसे दूर नगर में उनका प्रभाव इससे आंका जा सकता है कि वहाँ से १८८१ ई० में श्री ज्वालादत्त प्रसाद ने मासिक 'भारतेन्दु' निकालना शुरू किया। बाद में राधा-चरण गोस्वामी इसे वृन्दावन से निकालने लगे। उन्होंने समय-समय अपने समय के संपादकों को जो पत्र लिखे हैं उनसे उनके पत्रकला-संबन्धी ज्ञान का पता चलता है। 'आनन्दकादम्बिनी' के एडीटर बदरीनारायण चौधरी का लगभग सारा पत्र आप ही रँगते थे। भारतेन्दु ने लिखा—

"जनाब यह किताब नहीं है कि जो आप इकेले ही इकराम

करते हैं बल्कि अखबार है कि जिसमें अनेक-जन-लिखित लेख होना आवश्यक है और यह भी जरूरत नहीं कि सब एक ही तरह के लिखक्कड़ हों।"

(देखिए ब्रजरतनदास, ३२६)

जब हम देखते हैं कि सरस्वती जैसी युगप्रवर्तक पत्रिका के संपादन १९०४-५ में भी इसे 'मासिक पुस्तक' लिखते हैं और यह आवश्यक समझते हैं कि सारे लेख एक ही ऊँची श्रेणी के हों। न मिलने पर संपादक उन्हें लिख डाले, तो भारतेन्दु की पत्रकला संबन्धी ज्ञान और चेतना का अच्छा आलोचन हो जाता है। राधाचरण गोस्वामी को उन्होंने लिखा—

"भारतेन्दु टाइप में छपे तो बड़ी उत्तम बात है। २४ पेज में टाइटिल पेज के २५० कापी की छपाई कागज़ समेत २५) रु० में उत्तम छप सकता है। यहाँ छपे तो मैं प्रूफ़ आदि भी शोध दिया करूँ।" (वही, ३२७)

वे समाचार-पत्रों की उपयोगिता से भलीभाँति परिचित थे। बकराईद के मौक़े पर कई नगरों में मुसलमानों ने हिन्दुओं का दिल दुखाने के लिए गोहत्या की थी। इस पर भारतेन्दु ने 'क्षत्रिय पत्रिका' के संपादक बाबू रामदीनसिंह को लिखा था—

"भागलपुर, मिर्ज़ापुर, काशी इत्यादि कई स्थानों में प्रकाश्यरूप से केवल हमारा जी दुखाने के हाँको-ठोक यह अत्याचार हुआ है जो किसी-किसी समाचार-पत्र में प्रकाश भी हुआ है। आप भी अपने पत्र में इस विषय का भली भाँति आंदोलन कीजिए। सब पत्र एक साथ कोलाहल करेंगे। तब काम चलेगा। हिन्दी, उर्दू, बङ्गाली, मराठी, अंग्रेजी सब भाषाओं के पत्रों में जिनके संपादक हिन्दू हों एक बेर बड़े धूम से इसका आन्दोलन होना आवश्यक है आशा है कि अपने शक्य भर आप इस विषय में कोई बात उठा न रक्खेंगे। (वही, ३३०)

१८८० ई० में भारतेन्दु ने पत्र बन्द अवश्य कर दिये या वे दूसरों के पास चले गये, परन्तु अपनी आदि के अंत तक वे समसामयिक पत्रों में बराबर लिखते रहे और सभी पत्रकारों को हर तरह उत्साह देते रहे। कष्ट के समय सांत्वना और सलाह के लिए उस समय के पत्रकार उन्हें ही देखते थे।

भारतेन्दु की प्रगतिशीलता आँकने के लिए उनके पत्र और पत्रसाहित्य विशेष रूप से पठनीय हैं। १८७३ ई० की ही 'हरिश्चंद्र पत्रिका' की एक संख्या में हम उन्हें "बाबुन्दभे" की खिल्ली उड़ाते पाते हैं·

When I go Sir I molakat ko, those chaprasis
Trouble me much ;
How can I give daily Inam, ever they ask
Me I say much,
Some time they give me gardaniya
And tell 'Bahar niklo tum
Dena na lena muft ke aye yahan hain
Bare Darbari ki Dum.'

और उसी संख्या में 'बसन्तपूजा' शीर्षक एक छोटा-सा प्रहसन है जिसमें भयकत्रिदेवता कोतवाल, थानेदार और नाजिर का मजाक उड़ाया गया है। 'मैगज़ीन' की पहली ही संख्या में यूरोपीय ने प्रति भारतवार्षीय के प्रश्न' एक दिलचस्प प्रश्नमाला है। दूसरी संख्या में 'कलिराज की सभा' निबन्ध है। इसके लेखक मुंशी ज्वालाप्रसाद हैं। इसमें ब्रिटिश राज्य के स्कंधों जैसे M. C. S. I. और आमात्य वर्ग का मजाक उड़ाया गया है। कांग्रेस के जन्म के बहुत पहले ही इन पत्रों में स्वदेशी के व्यवहार के लिए आन्दोलन हुआ था। उस समय के पत्रों की प्रगति-शीलता 'हिन्दी प्रदीप' के इस उद्धरण में देखिए—

"वही सुशिक्षा और सभ्यता का दम भरनेवाले हम हैं कि देशी वस्तुओं के बर्ताव के लिए हजार सिर धुनते हैं और प्रत्यक्ष देख भी रहे हैं कि देश की बनी हुई वस्तुओं को काम में न लाने से दरिद्रता देश के कोने-कोने में डेरा किये है पर विलायती चीजों के चटकीलेपन और नफ़ासत में ऐसे फँसे हैं कि हमारे हजार बार के लेक्चर का एक भी फल न हुआ।"

(हिन्दी प्रदीप, सं० ४, जिल्द ३१)

इसी पत्र ने अपना उद्देश्य यों दे रखा है—

"समाचार पत्र प्रजा का प्रतिनिधि-स्वरूप है।" यह सब प्रगति-शीलता कहाँ से आई, यह समझने के लिए हमें भारतेन्दु के पत्रों के पन्ने उलटने पड़ेंगे। वह पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने 'प्रचारात्मक साहित्य' लिखने की चेष्टा की, उसमें लेखनकला विकसित की, और, अपने समय के अन्य लेखकों को प्रेम से उस लेखनकला का महत्त्व सिखाया।

भारतेन्दु साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों के लिए हमें उनके पत्रों का ऋणी होना पड़ेगा। उन्होंने गंभीरतापूर्वक खड़ी बोली पद्य का प्रयोग किया था, यह हम यहीं देख पाते हैं। इसके लिए हमें 'नवोदित श्री हरिश्चंद्र चंद्रिका' के अंतिम और पहली दो संख्याएँ अवश्य देखनी होंगी। १८७४ ई० में ही उन्होंने हरिश्चन्द्र चंद्रिका (अक्तूबर संख्या) में 'मन्द मन्द आवे देखो प्रातसमीरन' लिखकर बँगला के पयार छंद का प्रयोग किया है। १८७४ से १८८२ तक उन्होंने 'चंद्रिका' में कितनी ही ब्रजभाषा-खड़ी मिश्रित कविताएँ प्रकाशित कीं। १८८१ ई० में भारतमित्र (सितम्बर, १८८१) में उनके ३ दोहे और एक गीत इस विज्ञप्ति के साथ छपे हैं—

'प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है। देखिएगा कि इसमें क्या कसर और किस उपाय के अवलंबन करने से इसमें

काव्य-सौन्दर्य बन सकता है। इस संबंध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे में वैसा परिश्रम किया जायगा × × लोग विशेष इच्छा करेंगे, तो मैं और भी लिखने का प्रयास करूँगा।'

हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए भारतेन्दु के पत्रों ने काम किया, यह उर्दू के इस स्यापे से देखिए जो हरिश्चन्द्र चंद्रिका, जून १८८४ में छपा है—

है है उर्दू हाय हाय । कहाँ सिधारी हाय हाय
मेरी प्यारी हाय हाय । मुंशी मुल्ला हाय हाय
बल्ला-बिल्ला हाय हाय । रोये पीटें हाय हाय
टाँग घसीटैं हाय हाय । दुनिया उलटी हाय हाय
रोजी बिलटी हाय हाय । सब मुखतारी हाय हाय
किसने मारी हाय हाय । खबरनवीसी हाय हाय

सरसैयद अहमद खाँ ने अपने पत्र 'अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गजेट' में लिखा कि हिन्दी, उर्दू की तरह, शीघ्र नहीं लिखी जा सकती। भारतेन्दु ने लिखा—

'संपादक साहब का सब काम चला जाता है, योंही लोग हाय हाय मचा रहे हैं—और न चले—तो हमें कुछ नहीं—और संपादक महाशय ने लिखा है कि जल्द लिखने की बाबत जबानी बहस बेजा है। यह बात इम्तहान से ही फैसल हो सकती है। इसको हम भी मानते हैं, दो शीघ्र लिखनेवाले बैठकर लिखें तब अपने आप झगड़ा मिट जाय, नहीं सम्पादक साहब ऐसे बिबर हो यह युक्ति न बताते। जान पड़ता है उनको यह भरोसा है कि जब तक संग लिखा जायगा तब तक लिखेंगे। फिर लकीरें खींच अपनी बात का पूरा पारेंगे क्योंकि उर्दू अक्षरों में और टेढ़ी-सूधी लकीरों में कुछ भेद थोड़े ही हैं। और कहें कि उस

जल्दी के लेख को किसी अजान वाला से पढ़वा लेंगे तब मानेंगे तो कुछ इसका संपादक महाशय ने कोई जिम्मा थोड़ा लिया है, केवल कागज रंगने की ठहरी है। कोई कुछ समझो हम तो संपादक साहब के मुँह से यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए कि बंगाल गवर्नमेंट भी अपने बिन विचारे हुक्म को दूर करना चाहती है, वहाँ उर्दू जारी होगी इससे हमें भी यही अभिलाष हुई थी यहाँ कौन झगड़े में पड़ता, यदि सहसा करके बंगाल गवर्नमेंट पछताई है तो हमको क्या पछिताना पड़ेगा ही, न कोई यह जाने कि तुमने काहे से जाना कि हिन्दी होने से हानि हुई और फिर अब उर्दू करनी पड़ेगी। तो हम पर बात बनानी तो आती नहीं बनीबनाई अलीगढ़ अखबार में दिखा देंगे, उसके सम्पादक के पास कोई चिट्ठी आई होगी जब लिखा है वैसे क्यों लिखते।'

(कविवचनसुधा, अक्टूबर १३, १८७३)

भारतेन्दु का सारा निबंध साहित्य अपने पत्रों तथा अन्य समाचार एवं मासिक पत्रों के लिए लिखा गया और प्रकाशित हुआ है। उन्होंने कितने लेख लिखे, कितनी विचारधाराएँ उनमें छिपी हैं, उनकी निबंध-लेखन-शैलियों में कितना परिवर्तन एवं विकास हुआ है, यह तब तक नहीं कहा जा सकता, जब तक सारी सामग्री प्रकाशित होकर सामने नहीं आती। अभी तो उस युग के कितने ही पत्र अप्राप्य या लुप्तप्राय हैं, स्वयं भारतेन्दु के पत्रों की पूरी-पूरी फाइलें नहीं इकट्ठी हो पाई हैं, ऐसी अवस्था में भारतेन्दु के निबंध साहित्य की विस्तृत आलोचना अपेक्षित नहीं होगी। ऐसी सामग्री के अभाव में हमें उनके उन निबंधों से ही संतोष करना पड़ेगा, जो 'हरिश्चंद्रकला' के कुछ भागों में प्राप्त हैं।

भारतेन्दु के निबंधों के विषय-भेद में अनेक भेद किये जा

सकते हैं और विषयभेद के साथ शैलीभेद भी वर्तमान है। भारतेन्दु की भाषाशैली पर हमने अलग अध्याय में विचार किया है। यहाँ हम उनके निबंधों की, विचारों की ही बात करेंगे। भारतेन्दु के जीवन संबंधी निबंध स्वयं एक श्रेणी हैं। इनमें उनकी साहित्य संबंधी प्राचीन शोध और साहित्य की गहरी परख के चिन्ह मिलते हैं। 'जयदेव' के जीवन-चरित्र की भूमिका देखिए—

'जयदेव जी की कविता का अमृतपान करके तृप्त, चकित, मोहित और घूर्णित कौन नहीं होता और किस देश में कौन सा ऐसा विद्वान है जो कुछ भी संस्कृत जानता हो और जयदेव जी की काव्यमाधुरी का प्रेमी न हो। जयदेव जी का यह अभिमान कि अंगूर और दाख की मिठास उनकी कविता के आगे फीकी है, बहुत सत्य है। इस मिठाई को न पुरानी होने का भय है न चींटी का डर है, मिठाई हो पर नमकीन है यह नई बात है। सुनने-पढ़ने की बात है, पर गूँगे का गुड़ है यह नई बात है। निर्जन में जंगल पहाड़ में जहाँ बैठने को बिछौना भी न हो वहाँ गीतगोविन्द सब आनन्द सामग्री देता है। और जहाँ कोई मित्र रसिक भक्त प्रेमी न हो वहाँ यह सब कुछ बनकर साथ रहता है। जहाँ गीतगोविन्द है, वहीं वैष्णव गोष्ठी है, वही प्रेम-सरोवर है, वहीं भाव-समुद्र है, वहीं गोलोक है और वहीं प्रत्यक्ष ब्रह्मानंद है। पर यह भी कोई जानता है कि इस परब्रह्म रसप्रेम सर्वस्व श्रृंगार समुद्र के जनक जयदेव जी कहाँ हुए ? कोई नहीं जानता और न इसको खोज करता है (पृ० ६५) इस लेख में उन्होंने बँगला खोज पुस्तक 'जयदेव चरित्र' से सहायता ली है। परन्तु स्थान-स्थान पर अनैक्य भी प्रकाशित किया है जैसे 'जयदेव चरित्र' इत्यादि बँगला ग्रन्थों में से जयदेव का समय तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी है यह अप्रमाण

होकर यह निश्चय हुआ कि जयदेव जी ग्यारहवीं शताब्दी के आदि में उत्पन्न हुए।"

इस प्रकार से अनेक खोजपूर्ण स्थल उनके ग्रन्थों में मिलते हैं जैसे, 'परन्तु हमारा कथन है कि संस्कृत वृहद् कथा गुणाढ्य की बनाई नहीं है'। इस प्रकार के कथनों को उन्होंने तर्क द्वारा स्थापित किया, यों ही व्यर्थ आग्रह नहीं किया। वास्तव में, वे हिंदी के पहले निबन्धकार ही नहीं, पहले उत्कृष्ट आलोचक और समीक्षक भी हैं। जहाँ उनकी भावुकता को विशेष अनुरोध मिला जैसा सूरदास के चरित्र में वहाँ उन्होंने अपना बनाया कोई छंद आदि भी रख दिया है -

हरि पद पंकज भक्त अलि, कविता रस भरपूर
दिव्य चक्षु कवि कुल कमल, सूर भौमि की पूर

कहीं-कहीं अत्यंत सरल भाषा में ऊँची कोटि की समीक्षा भी हो जाती है, जैसे, 'इनकी (सूर की) कविता में एक असर ऐसा होता है कि जी में जगह करे।' कहीं कहीं अपना व्यक्तित्व भी प्रकाशित कर देते हैं जैसे 'यह (सूरदास) इस असार संसार के ऊपर को न देखने के वास्ते आँख बन्द किए हुए थे। इस भक्ति से स्वयं उनकी वह वैराग्यवृत्ति प्रगट हुई जो उनके सभी 'समर्पणों' में प्रकाशित है।' यह महत्वपूर्ण बात है कि हरिश्चंद्र ने ही पहले-पहले दृष्टकूट वाले पद से हिंदी साहित्य को परिचित कराया और उसके अनुसार जीवनवृत्त रखने का प्रयत्न किया। परन्तु उनमें इतनी साहित्यिक सतर्कता थी कि उन्होंने इस नई साक्षी को एकदम नहीं मान लिया। 'दिल्ली दरबार-दर्पण' में हम भारतेन्दु को राजनैतिक समीक्षक और अच्छे व्यंगकार के रूप में देखते हैं। राजाओं का कैसा व्यंग चित्र है—"कोई तो दूर ही से हाथ जोड़े आए, और दो एक ऐसे थे कि जब एडिकांग के बदन झुका कर इशारा करने पर भी उन्होंने सलाम न किया तो एडिकांग ने

पीठ पकड़ कर उन्हें धीरे से झुका दिया। कोई बैठकर उठना जानते ही न थे, यहाँ तक कि एड्किकांग को 'उठो' कहना पड़ता था। कोई झंडा-तगमा, सलामी और खिताब पाने पर भी एक शब्द धन्यवाद का नहीं बोल सके और कोई बेचारे इनमें से दो ही एक पदार्थ पाकर ऐसे प्रसन्न हुए कि श्रीयुत वाइसराय पर अपनी जान और माल निछावर करने को तैयार थे।" एक महारानी का जिक्र है—'उत्तर में एक बार महारानी के मुँह से 'यस' निकल गया, जिस पर श्रीयुत ने बड़ा हर्ष प्रकट किया कि महारानी अँग्रेजी भी बोली सकती है, पर अनुवादक मेम साहिब ने कहा कि वे अँग्रेजी में दो-चार शब्दों से अधिक नहीं जानतीं।' इस संबन्ध के व्यंग को इस प्रच्छन्न रूप में देखिये—'श्रीयुत वाइसराय लोगों से इतनी मनोहर रीति से बातचीत करते थे जिससे सब मगन हो जाते थे और ऐसा समझते थे कि वाइसराय ने हमारा सबसे बढ़कर आदर किया। भेंट होने के समय श्रीयुत ने हरेक से कहा कि आपसे दोस्ती करके हम अत्यंत प्रसन्न हुए, और तगमा पहिनाने के समय भी बड़े स्नेह से उनकी पीठ पर हाथ रख कर बात की।' 'पंच पवित्रात्मा' में मुसलमान धर्म के महान् पुरुषों और पूज्यों पर आदरबुद्धि दिखा कर भारतेन्दु ने अपने को सच्चा भारतीय सिद्ध किया है। इसमें उनकी वैष्णवता और उनका प्रिय सन्देश और भी चमक उठे हैं। भारतेंदु के विशाल साहित्य की भूमिका के पीछे बड़ा दर्द छिपा है। एक भूमिका में पढ़िये—

"जब से यहाँ का स्वधीनता-सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समय का उत्तम शृङ्खलाबद्ध कोई इतिहास नहीं है। मुसलमान लेखकों ने जो इतिहास लिखे भी हैं उनमें आर्यकीर्ति का लोप कर दिया है। आशा है कोई माई का लाल ऐसा भी होगा जो बहुत सा परिश्रम स्वीकार करके एक दो अपने बाप-दादों का पूरा इतिहास

लिखकर उनकी रीति स्थापित करेगा।" 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में उन्होंने लिखा है—"अब वैष्णवों से यह निवेदन है कि आप लोगों का मत कैसी दृढ़ भित्ति पर स्थापित है और कैसे सार्वजनीन उदारभाव से परिपूर्ण है, यह कुछ कुछ हम आप लोगों को समझा चुके। उसी भाव से आप लोग भी उसमें स्थिर रहिये, यही कहना है। जिस भाव से हिंदू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा। अब हम लोगों के शरीर का बल न्यून हो गया, विदेशी शिक्षाओं से मनोवृत्ति बदल गई, जीविका और धन-उपार्जन के हेतु अब हम लोगों को पाँच-पाँच छ-छ पहर पसीना चुआना पड़ेगा, रेल पर इधर से उधर कलकत्ते से लाहोर और बम्बई से शिमला दौड़ना पड़ेगा। सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का, इंजिनियरी का इम्तिहान देने को विलायत जाना होगा, बिना यह सब किये काम न चलेगा, क्योंकि देखिए कृस्तान, मुसलमान, पारसी यही हाकिम हुए जाते हैं। हम लोगों की दशा दिन दिन हीन हुई जाती है। जब पेट भर खाने ही को न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा इससे जाति-मात्र के सहज धर्म उदरपूरण पर अब ध्यान दीजिए। परस्पर का बैर छोड़िए। शैव, शाक्त, सिक्ख जो हो सब से मिलो। उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्य-क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं। वैष्णव, शैव, ब्रह्म, आर्यसमाजी सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं इसी से ऐश्वर्य रूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बंधता। इन सब डोरी को एक में बाँधकर मोटा रस्सा बनाओ तब यह हाथी दिग्दिगंत भागने से रुकैगा। अर्थात् अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें। अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अँगरेजों से जो नौकरी बच जाती है उन पर मुसलमान

आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी ही नहीं; केवल नौकरी की थी सो भी धीरे धीरे खसकी। तो अब कैसे काम चलेगा। कदाचित् ब्राह्मण और गोसाईं लोग कहें कि हमको तो मुफ्त का मिलता है हमको क्या? इस पर हम कहते हैं कि विशेष उन्हीं को रोना है। जो कराल काल चला आता है उसको आँख खोलकर देखो। कुछ दिन पीछे आप लोगों के मानने वाले बहुत थोड़े रहेंगे अब सब लोग एकत्र हों। हिन्दू नामधारी वेद से लेकर तंत्र वरंच भाषा ग्रंथ मानने वाले तक सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रक्खो कि आर्य-जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है। भीतर तुम्हारे चाहें जो भाव और जैसी उपासना हो ऊपर से सब आर्य मात्र एक रहो। धर्म सम्बंधी उपाधियों को छोड़ कर प्रकृत धर्म की उन्नति करो।" (पृ० २३–२८)

मुसलमानों और अँग्रेजों की राजनैतिक दृष्टिकोण से तुलना देखिये—

"क्या मुसलमान क्या अँग्रेज भारतवर्ष को सभी ने जीता, किंतु इनमें उनमें तब भी बड़ा प्रभेद है। मुसलमानों के काल में शतसहस्र बड़े-बड़े दोष थे, परन्तु दो गुण थे। प्रथम तो यह कि उन सबों ने अपना घर यहीं बनाया था इससे यहाँ की लक्ष्मी यहीं रहती थी। दूसरे बीच-बीच में जब कोई आग्रही मुसलमान बादशाह उत्पन्न होते थे, तो हिंदुओं का रूप भी उष्ण हो जाता था। इससे वीरता का साकार शेष चला आता था। किसी ने सच कहा है कि मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है, अँग्रेजी क्षयी का। इनकी शासन-प्रणाली में हम लोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है। बीच में जाति-पक्षपात, मुसलमानों पर विशेष दृष्टि देखकर लोगों का जी और भी उदास होता है। यद्यपि लिबरल दल से हम लोगों ने बहुत सी आशा बाँधी थी पर वह

आशा ऐसी थी जैसे रोग असाध्य हो जाने पर विषबटी की आशा।"

ऊपर के अवतरण में हम भारतेन्दु की उस राजनैतिक प्रगतिशीलता का परिचय पाते हैं जिसके कारण उन्हें सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा था, जिससे 'बालाबोधिनी', 'कवि-वचन सुधा' और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' का निकालना उनके लिए असंभव हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी की राजनीतिक चेतनता कितनी सुप्तावस्था में थी, यह हमें कांग्रेस के १८८४ से लेकर शताब्दी के अन्त तक के प्रस्तावों के अध्ययन से मालूम हो जायगा। भारतेन्दु की प्रतिभा ने भारत की बेबसी को समझा था, और उन्होंने सहस्रमुख हो उसके निराकरण के उपायों का प्रचार किया।

८

भारतेन्दु की भाषा-शैली

खड़ीबोली हिन्दी की गद्य-शैली के विकास में राजा शिव-प्रसाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काम परस्पर पूरक जैसा है। यह स्पष्ट है कि यदि राजा साहब का प्रयत्न न होता और हिन्दी को पाठ्य विषयों में स्थान न दिलवाकर उन्होंने उसे शिक्षा का माध्यम स्वीकृत न करवाया होता तो हिन्दी के पठन-पाठन को उत्तेजना न मिलती और केवल कुछ लोगों के सिवाय जो जातीयता और जाति-भाषा के पक्षपाती थे, उसका प्रयोग कोई न करता। फिर उसमें भाषा के निश्चित रूप और शैली की प्रतिष्ठा की बात ही क्या?

परन्तु राजा साहब का कार्य एक विशेष सीमा से आगे नहीं बढ़ा। वास्तव में जिस कूटनीति की आवश्यकता थी, वह राजा साहब चल रहे थे, परन्तु एक ओर अधिकारी वर्ग और सर सैयद अहमद खाँ जैसे मुसलमान नेताओं की सतर्कता और दूसरी ओर स्वयम् हिन्दुओं के विरोध के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली और वे प्रतिक्रियावादी हो गये। जहाँ पहले वे नीति के लिए उर्दू लिपि और थोड़े बहुत उर्दू फ़ारसी शब्दों के प्रयोग की ओर झुकते थे वहाँ पिछले वर्षों में वे एकदम उर्दू-प्रेमी बन गये।

भारतेन्दु-पूर्वकाल में भाषा-शैली के विषय में लोगों का दृष्टिकोण निश्चित नहीं था। कुछ उद्धरणों से यह बात स्पष्टतया समझी जा सकेगी—१—"नूरजहाँ अति सुन्दरि चतुरी विद्या मैं निपुण, कबितावंछ, इंगलाप ऊदर राज कारज में सुबुधि स्वधरम सावधान, हाव भाव लीला विलास, धुरंधुर नृत्य गीत में पबरदारी सोरभ धैरय सम्पन्न हती। तापर पातस्याह अति मोहित होई मुख्य बेगम कीनी। जाको इश्क मात्र बिरद पातस्याह को नाम मात्र रह्यो और हुकुम सब नूरजहाँ को ठहर्यो। कागद फरमान उनैं बेगम के नाम के चले। सिका मैं पातस्याह वा बेगम को नाम दोऊन कौ नाम हतो। पातसाह कहते हुवैंमौ कौ एक सीसौ मदिरा कौ वा आध सेर मांस चाहिये और सब बेगम को हुकुम हासिल। खान आलम एलची ईरान गयो हतो सो आयो। ईरान को .पातस्याह वासौं निपट राजी रह्यो। जान आलमैं नाम धियो हुतो। बड़ो चतुर दूत करम मैं सावधान हतो। ईरान कौ पातस्याह सनेह बस वाके घर आवतो। पातस्याह जादो सुलतान षुर्रम के तीन बेटा भये दारासीकोह मुराद बकस। दो पहले भये हते। गुजरात के सूबा

दोहद गाँव मैं औरंगजेब भयो। आगरा तैं लगाय लाहौर ताईं पौणा दो दो कोस।"

ब्रजभाषा गद्य में दो सौ वर्ष पुराना मुगलवंश का संक्षिप्त इतिहास। १७२०-२१ या आस-पास का गद्य।

('हिन्दुस्तानी' जनवरी १९३८)

२—......आजमशाह ने बहुत से कवियों को बुलवाय बिहारी सतसई को शृङ्गार के और ग्रन्थों के क्रम से क्रम मिलाय लिखवाया। इसी से आजमशाही सतसई नाम हुआ। और सतसई में नृपस्तुति के दोहे छोड़ जो दोहे सात सौ से अधिक और कवियों के बनाये, जो मिले हैं तिनमें से जिसका ठिकाना टीकाकारों के ग्रंथ में पाया तिसे पीछे रहने दिया और जिसका प्रमाण कहीं पाया तिसे निकाल बाहर किया। और अधिक दोहे कवियों के रहने दिये इसलिए कि, वे ऐसे मिल गये हैं कि हर किसी को मालूम नहीं सिवाय प्राचीन सतसई देखने वालों के। और जो अधिक दोहे इस ग्रंथ में न रखते, तो लोक कहते कि सतसई में से दोहे निकाल डाले, औ यह कोई न समझता कि सतसई के वे सतसई के दोहे न थे। इसलिए दो टीकाकारों का प्रमान ले, अधिक दोहे रहने दिये।

ग्रन्थ छपा संस्कृत प्रेस में। छापा श्रीगुरुदास पाल ने। जिस किसी को छापे की पोथी लेने की अभिलाषा हो। लाल-चन्द्रिका माधव विलास...... तिसे कलकत्ते में दो ठौर मिलेगी। एक पटल डाँगे में श्री लल्लूजी के छापेखाने में औ दूजे बड़े बाजार में श्री बाबू मोतीचंद गोपालदास की कोठी में श्री हरिदेव सेठ के यहाँ।

(भूमिका लालचन्द्रिका, १८७५ वि०)

३—याचक तो अपना अपना वांछित पदार्थ पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परन्तु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का

निर्धार करता है नित्य-नित्य चिंता ही में रहता है। पहले तो राज्य बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीत कर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है, जैसे बड़ा छत्त यद्यपि घाम से रक्षा करता है परन्तु बोझ भी देता है

(शकुन्तला नाटक—अंक ५)

४—बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोना चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगते आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेंह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता।

(राजा भोज का सपना—१)

अधिकांश गद्य में प्रान्तीयता की प्रधानता थी। जो लेखक जिस प्रान्त का होता, वह उसकी बोली से अपने गद्य को भर देता था। इस प्रकार भाषा और शैली का निश्चित रूप कोई नहीं बन पड़ता था। लेखकों की भाषाओं में बड़ा भेद रहता। इंशा, लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की भाषा-शैली को देखने से यह बात स्पष्ट है। इंशा की भाषा पर लखनऊ की हिन्दी का प्रभाव है तो लल्लू जी की भाषा पर ब्रज का। इंशा लखनऊ में रहते थे, लल्लू लालजी आगरे में। एक दूसरी बात यह थी कि इससे पहले गद्य का प्रयोग टीकाओं के लिए चल पड़ा था। टीकाओं के विषय में लिखते हुए हमने उनको पंडिताऊ और संस्कृत अन्वय के ढंग

को भाषा की शैली के विषय में लिखा है। कथापाठ की शैली तो आज के पण्डित वर्ग में चल रही है और हम उसके रूप से भली भाँति परिचित हैं। इस पण्डिताऊ शैली की ओर भी लेखकों को बार-बार झुकना पड़ता था। सदल मिश्र की भाषा के पंडिताऊपन को दृष्टि की ओट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय हिन्दी गद्य प्रान्तीयता के मोह और संस्कृत भाषा-शैली के ढंग पर भाषा-संस्कार (पंडिताऊपन) के बीच में से गुजर रहा था। इन दो महत्वपूर्ण बातों के अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि उस समय तक पद्य की प्रधानता होने के कारण लेखक गद्य लिखते समय पद्य की ओर झुक जाते थे। संस्कृत काव्य से परिचित लोगों को अलंकार-प्रयोग, अनुप्रास, शब्दालंकारों के चमत्कार और समास के प्रति भी मोह था। कादम्बरी की भाषा उन्हें अपनी ओर खींचती थी। उर्दू गद्य में भी इस समय मुरुज्जा मुकुफ्फा गद्य की प्रधानता थी। इसको देखकर हिन्दी में भी अन्त्यानुप्रास प्रयोग प्रारम्भ हुआ। वैसे थोड़ी बहुत तुकबन्दी—वाक्य-खंडों अथवा वाक्यों के अंत में तुक का प्रयोग—पण्डित गद्य में चली आती थी। यह दोष राजा शिवप्रसाद ने दूर करना चाहा, परन्तु वे असफल रहे। इसका कारण यह था कि सरकारी क्षेत्र में उनका प्रभाव जितना हो, गद्य लेखकों में उनका प्रभाव अधिक नहीं था। फल यह हुआ कि इन दोनों दोषों और शैलियों के साथ ही उनकी भी एक शैली प्रतिष्ठित हो गई। उनकी शैली में भी अपने दोष थे—(१) अधिक संख्या में उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग, (२) वाक्यों की रचना उर्दू के ढंग पर। राजा साहब के विषय में विस्तृत रूप में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उनकी शैलियों की त्रुटियाँ बतला दी गई हैं जिससे इस क्षेत्र में भारतेन्दु का महत्व जाना जा सके।

राजा साहब की शैली के विरोध ने एक नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिन्दी लेखकों का एक वर्ग संस्कृत शब्दों, संस्कृत प्रयोगों और संस्कृत के ढंग पर वाक्य-रचना की ओर झुका। यह प्रतिक्रिया थी। इसके फलस्वरूप जिस भाषा का प्रयोग हुआ वह तत्सम-गर्भित, साधारण बोलचाल से दूर और क्लिष्ट थी। उसमें मुहावरों का प्रयोग नहीं होता था और कहावतों का नाम भी नहीं। बोलचाल के शब्द ग्रामीण समझकर दूर रक्खे जाते। इस भाषा के प्रतिनिधि राजा लक्ष्मणसिंह थे।

संक्षेप में, भाषा और शैली के सम्बन्ध में यही परिस्थिति थी। रसपुष्टि के रूप में भाषा का प्रयोग बहुत ही कम हुआ था। वैज्ञानिक विषयों की ओर प्रवृत्ति होने और टेक्स्ट बुक सोसाइटी आदि के अनुवादों के कारण सरल सुबोध भाषा-शैली ने जन्म अवश्य ले लिया था, परन्तु उसका प्रयोग स्कूल कालिजों से बाहर नहीं हुआ था। बाहर के क्षेत्र में प्रान्तीयता, पंडिताऊपन, उर्दू-फ़ारसी और संस्कृत शब्दावली और शैली का प्राधान्य था। प्रतिदिन के व्यवहार के शब्द और मुहावरे उपेक्षित थे।

भारतेन्दु ने सामंजस्य उपस्थित करने की चेष्टा की। उन्होंने बोलचाल की भाषा को अपना लक्ष्य बनाया। इसीलिए उन्होंने ऐसी भाषा-शैली की सृष्टि की जिसमें तत्सम शब्दों का अभाव था। जो तत्समशब्द आते वे चाहे फ़ारसी-अरबी के हों, चाहे संस्कृत के, अपने विकृत रूप में तद्भव बनकर आते, इसके अतिरिक्त उन्होंने उन उर्दू शब्दों का प्रयोग किया जो प्रतिदिन के व्यवहार में आकर हिन्दी शब्द-कोष में सम्मिलित हो गये थे। शब्द-कोष-सम्बन्धी एक विशेष संयत दृष्टिकोण को उन्होंने अपने सामने रक्खा।

भारतेन्दु ने जिसके सम्बन्ध में कहा है 'हिन्दी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०,' वह भाषा-शैली उनकी शुद्ध हिन्दी है।

१८८४ ई० में भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा शीर्षक एक निबंध लिखा है जिसमें उन्होंने अपने समय की भाषा-शैलियों पर विचार किया है और अपनी दो प्रिय शैलियों का उल्लेख किया है :

नं० १ जो शुद्ध हिन्दी है :

(१) जहाँ हीरा-मोती रुपया-पैसा कपड़ा अन्न-घी-तेल अतर फुलेल पुस्तक-खिलौने इत्यादि की दुकानों पर हजारों लोग काम करते हुए मोल लेते हुए बेचते दलाली करते दिखाई पड़ते हैं।

(प्रेमयोगिनी नाटिका)

(२) पर मेरे पीतम अब तक घर न आए। क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फंदे में पड़ गये कि इधर की सुधि ही भूल गये ? कहाँ तो वह प्यार की बातें कहाँ एक ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहाँ जाऊँ, कैसे करूँ मेरी तो कोई ऐसी मुँह बोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ, कुछ इधर उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ।

उन्होंने अधिकांश गद्य, विशेषकर अपने नाटकों का गद्य इसी शैली में लिखा।

साधारण और सरल विषयों पर लेख लिखते समय भी उन्होंने इसी शैली को अपनाया।

परंतु यह शैली उन्हें सर्वत्र मान्य नहीं थी। ऐतिहासिक और विवेचना-सम्बंधी विचारपूर्ण और गम्भीर विषयों में इससे काम नहीं चल सकता था। ऐसे अवसरों पर कुछ अधिक तत्सम शब्द चाहिए चाहे वे किसी भाषा के हों। भारतेन्दु ने तत्सम शब्द संस्कृत से लिये। उनकी दूसरी शैली यह है—

नं० २ जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं :

सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका

लादना छोड़ दिया। पुल टूट गये बाँध खुल गये पंक से पृथ्वी भर गई पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए बहुत वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराया सर्प बिलों से बाहर निकले महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियां की भाँति उमड़ चलीं।

परंतु जब कोई लेखक तत्सम शब्दों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देता है तो वह ठीक ठीक नहीं जानता है कि उसे कहां जाकर रुकना है। यही बात भारतेन्दु के सम्बंध में भी लागू रही। उनके कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनमें संस्कृत शब्द बहुत अधिक मिलते हैं। भारतेन्दु न राजा शिवप्रसाद की फ़ारसी-अरबी-प्रधान भाषा चाहते थे, न राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृत-प्रधान भाषा उन्हें प्रिय थी। उन्होंने सामंजस्य से प्रारम्भ किया परंतु शीघ्र ही गद्य उनके हाथ से निकल कर अन्य लेखकों के हाथ में चला गया। लाला श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने प्रचुर गद्य - साहित्य उपस्थित किया और उपन्यास, नाटक और निबंध-साहित्य की रचना की। विषयों और रुचियों की विभिन्नता के अनुसार इनका गद्य भी भिन्न है। ये सब भारतेन्दु मण्डली के लेखक कहे जाते हैं, परन्तु भारतेन्दु के गद्य की छाप होते हुए भी इन सबों का गद्य अनेक रूपों से स्वतंत्र है। उदाहरण के लिए श्रीनिवासदास के गद्य में उर्दू-शब्दावली नहीं के बराबर है और संस्कृत शब्दों का प्राधान्य है परंतु प्रतापनारायण मिश्र के लेखों में संस्कृत और फ़ारसी दोनों प्रकार की शब्दावली का सम प्रयोग पाते हैं। उन्होंने शैली को सरस और सजीव बनाने की बड़ी चेष्टा की। इससे वे उर्दू शब्दावली को त्याग नहीं सकते थे। भट्टजी बोलचाल के अधिक निकट रहते थे। चौधरी जी की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी पड़ी थी। उन्होंने ही पहली बार संस्कृत के अध्ययन के आधार पर कला के अनुसार

भाषा को गढ़ना और उनके अपने शब्दों में अपनी शैली को "सुडौल और सुन्दर" बनाना प्रारम्भ किया। अनुप्रास, चमत्कार और ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उनकी भाषा-शैली को उनके समकालीन लेखकों की भाषा-शैली के समक्ष विचित्र-सा बना देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेंदु के नई शैली चलाने (१८७३) के कुछ वर्षों बाद शैली उनके हाथ से निकल कर संस्कृत पंडितों तक पहुँच गई थी। भाषा की आवश्यकताएँ भी बढ़ गई थीं। वह अत्यंत शीघ्रता से प्रौढ़ हुई। भारतेंदु के अंतिम काल के लेखों से स्पष्ट है कि उनके समकालीन लेखकों की संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रभाव उन पर भी पड़ा और उन्होंने अधिक से अधिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने गद्य-शैली की स्वाभाविक प्रवृत्ति को समझ लिया था। उनके 'नाट्य-रचना' के लेख में इसी प्रकार की संस्कृत-प्रधान शैली का प्रयोग हुआ है। कदाचित् इसका एक और भी कारण था। उनका विषय अत्यंत गम्भीर था उसमें संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग आवश्यक था और ऐसी दशा में उनकी शैली न शुद्ध हिंदी हो सकती थी, न ऐसी हिंदी जिसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम हो। इस लेख से स्पष्ट है कि यदि भारतेंदु जी जीवित रहते तो उनकी गम्भीर और प्रौढ़ साहित्यिक रचनाएँ इसी शैली में होतीं। भाषा को सरल करने की प्रवृत्ति बुरी नहीं थी, ऐसी प्रवृत्ति ही हिंदुस्तानी के मूल में रही है, परंतु उसको बनाए रखना कठिन था।

भारतेंदु की शुद्ध हिंदी और थोड़े संस्कृत शब्दों वाली शैलियों का ही प्रयोग अधिक हुआ। कलकत्ता से लेकर लाहौर तक सर्वत्र उनकी शैली का प्रयोग हुआ परन्तु भिन्न-भिन्न लेखकों के हाथ में आकर उनकी शैली ने भी भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण किया। कहीं प्रान्तीयता का पुट मिल गया, कहीं ब्रजभाषा का (जो सर्वमान्य साहित्यिक भाषा थी), कहीं संस्कृत का प्रयोग अधिक हुआ।

भारतेंदु की शैली का पूरा-पूरा अनुकरण प्रतापनारायण मिश्र ने और कुछ सीमा तक बालकृष्ण भट्ट ने किया। हरिश्चन्द्र के बाद के संभ्रान्त लेखक यही रहे। इन्होंने हिंदी गद्य-शैली को बहुत अधिक प्रभावित किया। यही भारतेंदु के प्रतिनिधि समझे जाते थे। इनकी भाषा-शैली परवर्तीकाल में सर्वमान्य थी। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि सब लेखक इन्हीं की शैली लिख रहे थे। सच तो यह है कि भारतेन्दु के बाद (१८८५ ई०—१९०३ ई०) भाषा और शैली की दृष्टि से कोई निश्चित मार्ग नहीं था। कभी-कभी एक ही लेखक दो या तीन शैलियों का प्रयोग करता। संस्कृत-प्रधान शैली में भी लिखने वाले कम नहीं थे। पं० बद्री-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने संस्कृत-प्रधान भाषा की जो पद्धति उपस्थित की उसे पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया जहाँ केवल क्रिया-शब्दों के अतिरिक्त सारा गद्य संस्कृत-गद्य था और कादम्बरी के गद्य की तरह क्लिष्ट समासों से पूर्ण था।

भारतेन्दु के नाटकों में शैली का प्रयोग अनेक दृष्टिकोणों से हुआ है और परवर्ती रचनात्मक साहित्य पर उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। वैसे भाषा की दृष्टि से उनकी भाषा शुद्ध हिन्दी है परन्तु यहाँ शैली पर अधिक विचार किया जायगा। साधारण रूप से भाषा के विषय में केवल यही कह देते हैं कि उनके नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है वह सर्वसरल एवं स्पष्ट है। भाषा क्लिष्ट न हो जाय इस विषय में भारतेन्दु विशेष सतर्क हैं। इसके लिए जहाँ वे शुद्ध भाषा की दृष्टि से शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते थे वहाँ भावों की दृष्टि से अत्यन्त प्रचलित भाव ही सामने रखते थे और जहाँ पौराणिक कथाओं आदि को इंगित करना होता वहाँ भी वे यह ध्यान रखते कि वह जनप्रसिद्ध हो। उनकी भाषा चित्र-प्रधान है। उन्होंने अत्यंत

सुन्दर चित्र को बड़ी सफलता के साथ खींचा है। इस दिशा में उनकी कवि-प्रतिभा ने बड़ी सहायता दी है—

"सखी सचमुच आज तो इस कदम्ब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसी समां बँधी है वैसी ही झूलने वाली है। झूलने में रंग रंग की साड़ी की अर्द्धचन्द्राकार रेखा इन्द्रधनुष की छबि दिखाती है। कोई सुख से बैठी झूले की ठण्डी ठण्डी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेंग मारती है, कोई गाती है, कोई डर कर दूसरी के गले में लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगंद देती है पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।"*

उनकी शैली भाव के पीछे-पीछे चलती है। भावों के उत्थान-पतन को प्रगट करने में वे अत्यंत सफल हैं। इस गुण को रागात्मक कहा जा सकता है। भावानुकूल शैली लिखने में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कोई भी लेखक भारतेन्दु के जोड़ का नहीं है। "भारतेन्दु की शैली का सब से बड़ा गुण यही है कि वे उसको भावानुकूल अथवा विषयानुकूल परिवर्तित कर सकते थे और ऐसा करने की उनमें पूरी क्षमता थी।" आवेशपूर्ण स्थलों पर भारतेन्दु छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं, उनका गठन भी एक ही प्रकार का होता है। उनमें प्रवाह की मात्रा बहुत रहती है। ऐसे स्थलों पर सरल शब्दों का प्रयोग करते हैं; प्रचलित उर्दू शब्दों को भी नहीं छोड़ सकते यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम रहती है। भाषा बोलचाल के निकट अधिक रहती है। सारे पद की गति अत्यन्त क्षिप्र रहती है। साधारण वर्णनात्मक वाक्यों के साथ प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादि बोधक वाक्यों का प्रयोग अवश्य होता है। जहाँ इस प्रकार के वाक्य नहीं भी होते

---

*भारतेन्दु नाटकावली, श्री चन्द्रावली, पृ० ५४२

वहाँ प्रश्नसूचक अथवा विस्मयादि सूचक कुछ शब्द अवश्य रक्खे रहते हैं। ऐसे स्थानों पर भारतेंदु नए-नए सम्बोधन गढ़ते हैं और मुहावरों एवं अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से करते हैं, जहाँ लम्बे वाक्यों का प्रयोग होता है वहाँ वे शिथिल होते हैं और वाक्यांशों में एक प्रकार की लय होती है। कुछ ऐसे विशेष शब्द अवश्य प्रयुक्त किये जाते हैं जो वक्ता के मनोभावों को सूक्ष्मता एवं सुन्दरता से प्रगट कर देते हैं। संक्षेप में भाषा ऐसी होती है जो ऐसे असंयत अवसरों पर बोली जाती है।

भारतेन्दु की सर्वोत्तम शैलियाँ वही हैं जिनमें उन्होंने मानव-हृदय के व्यापक भावों, हर्ष, शोक, क्षोभ, रति आदि को प्रगट किया है। उनकी साधारण भाषा-शैली विचार-पुष्टि के नाते महत्वपूर्ण है, और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशाब्दों में उसका अनेक प्रकार से प्रयोग हुआ है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से उनकी भाव-प्रधान शैली ही अधिक श्रेय प्राप्त करती रहेगी। नीचे हम विभिन्न भावों और परिस्थितियों में प्रयुक्त कुछ शैलियों के उदाहरण देते हैं :

करुण।

भारतेन्दु करुण रस के भावों को प्रकट करने में पूर्णतया सिद्ध-हस्त हैं। सत्य हरिश्चन्द्र में ऐसी भाषा का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है जो इस प्रकार के भावों को बड़ी मार्मिकता से प्रगट करती है। वाक्य अत्यन्त छोटे छोटे होते हैं। एक ही वाक्य की, कई वाक्यों में पुनरुक्ति भी हो जाती है। भाषा सरल बोलचाल की, जिसमें न कहीं तोड़-मरोड़, न कहीं कृत्रिमता। प्रत्येक शब्द शोक की व्यंजना करता है। सारे पद शोक-बोधक और प्रश्न-वाचक वाक्यों से भरे होते हैं। ऐसे स्थलों की भाषा तद्भव शब्दों से भरी रहती है। न उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग रहता है, न संस्कृत तत्सम शब्दों का।

'हाय-हाय रे! अरे, मेरे लाला को साँप ने सचमुच डस लिया। हाय लाल! हाय रे! मेरे आँखों के उँजियाले को कौन ले गया! हाय मेरा बोलता सुग्गा कहाँ उड़ गया! बेटा! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! मेरा बसा घर किसने उजाड़ दिया! हाय मेरी आँखों में किसने आग लगा दी! हाय! मेरा कलेजा किसने निकाल लिया (चिल्ला-चिल्ला कर रोती है) हाय! लाल कहाँ गये? अरे, अब मैं किसका मुँह देखकर जिऊँगी रे? अरे, आज किस बैरी की छाती ठंडी भई रे? अरे, अरे, तेरे सुकुमार अंगों पर भी काल को तनिक भी दया न आई! अरे बेटा! आँख खोलो! हाय! मैं सब बिपत तुम्हारा ही मुँह देख कर सहती थी, सो अब मैं कैसे जीती रहूँगी! अरे लाल! एक बेर तो बोलो।'

शृङ्गार

भारतेन्दु की भाषा संयोग और विप्रलम्भ दोनों अवसरों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। परन्तु दोनों शैलियों में भेद है। संयोग के अवसर पर शैली काव्यात्मक एवं चित्रात्मक हो जाती है, तद्भव शब्दों के साथ-साथ संस्कृत तत्सम शब्द भी आते हैं। परन्तु दूसरे प्रकार की शैली में भाषा अधिक नीचे उतर आती है और उसमें प्रान्तीय तथा बोलचाल के शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। शैली आत्म-व्यंजना की ओर अधिक बढ़ती है और कभी-कभी प्रलापपूर्ण शैली बन जाती है। मुहावरों, कहावतों, और कविता के उद्धरणों का प्रयोग विशेष रूप से होता है।

संयोग शृङ्गार के स्थलों पर प्रयुक्त भाषा-शैली

"अहा! इस समय जो मुझे आनन्द हुआ है इसका अनुभव और कौन कर सकता है! जो आनन्द चन्द्रावली को हुआ है वही अनुभव मुझे भी होता है। सच है, युगल के अनुग्रह बिना

इस अकथ आनन्द का अनुभव और किसको है ।"

विप्रलम्भ शृङ्गार के स्थलों पर प्रयुक्त भाषा-शैली

"प्यारे, अपने कनौड़ को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा ? हाय ! मँझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो। प्यारे, सो भी दे चुकी; अब तो पार लगाओ। प्यारे, सब का हद होती है। हाय ! हम तड़पें और तुम तमाशा देखो। जन कुटुम्ब से छुड़ाकर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन-सी बात है ? हाय ! सब की आँखों में हलकी हो गई। जहाँ जाओ वहाँ दुर-दुर, उस पर यह गति। हाय ! "भामिनी तें भौंड़ी करी, मानिनी तें मौंड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।"

क्षोभ

क्षोभ के स्थलों पर भारतेन्दु साधु एवं गम्भीर भाषा का प्रयोग करते हैं। वाक्य साधारण वाक्यों से कुछ बड़े होते हैं तथा कहीं-कहीं कोई उद्धरण—विशेषकर किसी कविता का उद्धरण—उनमें मिला होता है। साथ में चिंतना भी चलती रहती है। विस्मयादि बोधक सम्बोधनों और वाक्यों का प्रयोग होता है। वाक्यांश एक ही प्रकार के होते हैं। उनकी लम्बाई और गठन समान होती है। पात्र स्वयं अपने से प्रश्न करता है तथा अपने मन को उद्बोधन करता है। ऐसे स्थलों पर भाषा चिंतामूलक होने के कारण तत्सम शब्दों की ओर अधिक झुकती है। चित्त-क्षोभ व्यंजन करने में यदि अवकाश रहा तो शैली अधिक गम्भीर हो जाती है पर वाक्य प्राय: बड़े ही हो जाते हैं—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बन्धु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भक्ति, प्रेम की एक-मात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिन्दी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों

का एकमात्र जीवन दाता, हरिश्चंद्र दुःखी हो! (नेत्रों में जल भर कर) हा सज्जन सिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुःख हो उसे सुख मानना' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत् से विपरीत गति चल के तो प्रेम की टकसाल खड़ी की है ....मित्र, तुम तो दूसरों का उपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो; तुम्हें इनकी निन्दा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोग बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे, क्या तुम अपना यह कवित्त भूल गये -'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पीछे, प्यारे हरिचंद की कहानी रह जायगी।"

(भारतेन्दु नाटकावली, प्रेमयोगिनी, पृ० ७१८)

प्रमाण-स्वरूप तथ्यनिरूपण या वस्तु-वर्णन के समय भाषा में संस्कृत पदावली का समावेश अवश्य हो जाता है किंतु भाषा में क्लिष्टता या दुरूहता नहीं आने पाती। वाक्य भले ही लम्बे हो जायँ किंतु सरल रहते हैं—

"सुनिए, काशी का नामांतर वाराणसी है जहाँ भगवती जाह्नु-नंदिनी उत्तर-वाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से ऐसी लिपटी हैं, मानो इसको शिव की प्यारी जानकर गोद में लेकर आलिंगन कर रही हैं, और अपने पवित्र जलकण के स्पर्श से ताप भय दूर करती हुई मनुष्यमात्र को पवित्र करती हैं। उसी गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाये बड़े-बड़े घाटों के ऊपर दो मंजिले, पंच-मंजिले और सत मंजिले ऊँचे-ऊँचे घर आकाश से बातें कर रहे हैं मानो हिमालय के श्वेत शृङ्ग सब गंगा-सेवन को एकत्र हुए हैं।"

(भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ७३६ प्रेमयोगिनी)

भावावेश में वाक्य प्राय: छोटे रहते हैं और बोलचाल की पदावली के साथ बोलचाल के उर्दू के भी प्रचलित साधारण शब्द आ जाते हैं।—

"झूठे! झूठे!! झूठे!!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक, क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते! भला क्या काम था जो इतना पचड़ा किया? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनन्द था, फिर क्यों यह विस्मय संसार किया! बखेड़िए! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप ही अपने मुहँ से झूँठे बने, पर वाहरे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता। बेशरमी हो तो इतनी तो हो! क्या कहना! लाज को जूतों मार-कर पीट-पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसा हो! हाय! एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यों लड़कर सिर फोड़ते। अच्छे-खासे अनूठे निर्लज्ज हो, काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे, हुकमी बेहया हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सफल हो।"

साधारण रूप से भारतेन्दु की भाषाशैली के दो भेद कर सकते हैं :—(१) भावना-प्रधान

(२) गंभीर, विवेचना-प्रधान

पहली प्रकार की शैली का विशद प्रयोग नाटकों में हुआ है, और प्रयोगभेद के अनुसार उसके अनेक भेद मिल सकते हैं। हम कुछ उदाहरण देते हैं—

(१) "कहाँ गया, कहाँ गया? बोल! उलटा क़सला-भला अपराध मैंने किया कि तुमने? अच्छा, मैंने किया सही, क्षमा करो, आओ प्रगट हो, मुँह दिखाओ। भई बहुत

भई, गुदगुदाना वहाँ तक जब तक रुलाई न आवे। हा! भगवान्, किसी को किसी की कनौड़ी न करै, देखो, मुझको इसकी कैसी बातें सहनी पड़ती हैं। आता तो नहीं भी आता, उलटा आप ही रूकता है पर अब क्या करूँ अब तो फँस गई, अच्छा यों ही सही।"

(चन्द्रावली नाटिका)

(२) "हाय रे! मेरे आँखों के उँजियाले को कौन ले गया? हाय! मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया? बेटा, अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय रे, मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया? हाय, मेरी कोख में ये किसने आग लगा दी? हाय, मेरा कलेजा किसने निकाल दिया?"

(सत्यहरिश्चंद्र)

(३) "ऐसे दरबार को दूर ही से नमस्कार करना चाहिए जहाँ लौंडियाँ पंडितों के मुँह आवें। यदि हमें इसी उचक्की को बातें सहनी हों तो हम वसुन्धरा नाम की अपनी ब्राह्मणी की ही चरन-सेवा करें जो अच्छा-अच्छा और गरम खाने को खिलावे।"

(कर्पूरमञ्जरी)

(४) "तो क्या इस शीतल सरोवर में तुम न नहाओगे? अवश्य नहाना होगा। आप न नहाओगे और अपने जनों को कहो कि इसमें स्नान करें। प्यारे, यह अक्षय सरोवर नित्य भरा रहेगा और इसमें नित्य नये कमल फूलेंगे और कभी इसमें कोई मल न आवैगा और इस पर प्रेमियों की भीड़ नित्य लगी रहैगी।"

(प्रेमसरोवर की भूमिका)

ऊपर की शैलियाँ भेद १ के अंतर्गत आती हैं जिनमें पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग तो है ही, रसोद्रेक पर भी दृष्टि है। इसलिए प्रवाह और सरसता पर विशेष आग्रह है। दूसरे प्रकार की शैली उनके निबन्धों और गंभीर ग्रंथों की है—

(१) "किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी वा चित्रपट वा स्थान है। यद्यपि महामुनि भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रसाद, वन, उपवन किंवा शैलप्रभृति की प्रतिछाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा, परन्तु अनुसंधान करने से बोध होता है, कि तत्काल में भी अंतःपटी परिवर्तन द्वारा वन-उपवन-पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी।"

(नाट्यरचना लेख)

(२) "जंगल में राग-रागिनी का जमघट जमा देख शहर में गुनियों ने भी अपना खटराग अलग निकाला। मियाँ तानसेन का नाम ले-लेकर कानों पर हाथ रखने लगे, सुलझी-सुलझी तानें लेने और गवैयापन का दम भरने लगे। गोद में ढोलक गुटकती थी, बगल में बैठे सितार कुछ जुदा गुनगुना रहे थे। इधर से तानपूरे अलग कान भरते थे, मिरदंग गाना सुनके अलग ही बेताब हो रही थी, मुरचंग रीझ-रीझ कर मुंह अलग चूम लेते थे, कहीं रबाब बजाने वाले उलझे पड़ते थे। कहीं मँजीरे ताल सम पर सिर हिला देते थे, सब मिलकर एक अजब सुर बँध रहा था।"

(बसंत, लेख, १८७३-७४)

(३) "हिन्दुस्तान के बहुत से पण्डितों का निश्चय है कि शिंशिया शीशम वृक्ष को कहते हैं। किन्तु हमारी बुद्धि में शिंशिया सीताफल अर्थात् शरीफे के वृक्ष को कहते हैं। इसके दो भारी सबूत हैं—प्रथम तो यह कि यदि जानकी जी से शरीफे का कुछ सम्बन्ध नहीं, तो सारा हिन्दुस्तान उसे सीताफल क्यों कहता। दूसरे यह कि महाभारत के आदिपर्व में राजा जन्मेजय के सर्पयज्ञ की कथा में एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि आस्तीक की दोहाई सुनकर जो साँप हट न जाय, उसका सिर शिंशवृक्ष के

फल की तरह सो-सौ टुकड़े हो जायगा। शिंश और शिंशिया दोनों एक ही वृक्ष के नाम हैं। यह कोषों से और नामों के सम्बन्ध से स्पष्ट है। शीशम के वृक्ष में ऐसा कोई फल नहीं होता जिसमें बहुत से टुकड़े हों। और शरीफे का फल ठीक ऐसा ही होता है जैसा कि श्लोक ने लिखा है।"

(रामायण का समय, पृ० २१)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि भारतेन्दु की भाषा में प्रांतीयता की भावना बहुत कम है। इसी से वह पूर्ववर्ती लेखकों की भाषा की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। उसमें अनुप्रास की प्रवृत्ति भी नहीं है। अलंकारों का प्रयोग लगभग नहीं है, रसपुष्टि और विचार-परिपाक पर दृष्टि अधिक है। इंशा, लल्लूलाल और सदलमिश्र तीनों की शैलियों में कादम्बरी आदि के ढङ्ग पर चली आई परम्परा के अनुसार (१) वाक्य-खण्डों के (२) अथवा वाक्यों के अंत में तुकबंदी का प्रयोग भी हुआ है, जैसे—

"× × जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखलाया जिसका भेद किसी ने न पाया।"

(इंशा)

"तिन्हें यों समुझाय पुनि महावत को बुलाय के बोला × ×"

(लल्लूलालजी)

राजा शिवप्रसाद ने भी इन दोषों से बचने का प्रयत्न किया था और वे भी सफल हुए थे, परन्तु उनकी भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग अधिक रहता था तथा उनकी रचना भी उर्दू ढंग की रहती थी, जैसे—

"हुमायूँ के भागने पर इस मुल्क का बादशाह शेरशाह हुआ। कामराँ के काबुल चले जाने पर पंजाब भी आ दबाया। और झेलम पर एक पहाड़ी पर रोहतास उसी का और वैसा ही मजबूत एक क़िला बनवाया जैसा उसकी जन्मभूमि बिहार में था।"

परन्तु भारतेन्दु ने इस परिष्कृत शैली से उर्दू फ़ारसी के शब्द हटाकर और शैली को हिंदी व्याकरण का पुट देकर ही ग्रहण किया। पीछे हमने उनके इस प्रयत्न का विशद् विवेचना की है।

संक्षेप में, हम भारतेन्दु की शैली पर निश्चयात्मक ढंग से यह कह सकते हैं—

(१) भारतेन्दु की शैली सरल, सरस एवं सुन्दर है।

(२) वे भावानुकूल शब्दों का प्रयोग करते हैं और भावानुकूल शैली में परिवर्तन भी कर देते हैं।

(३) उनकी शैली में उनके अपने व्यक्तित्व की छाप है—समसामयिकों की भाषा-शैलियों में यह किसी प्रकार मेल नहीं खाती। उसमें कृत्रिमता का कहीं अंश भी नहीं है।

(४) यद्यपि लोकजीवन में भारतेन्दु निरंकुश हैं, परन्तु भाषा का प्रयोग बड़े संयम के साथ, अपने ढंग पर करते हैं।

(५) उनकी शैली सदल मिश्र की शैली के बहुत निकट पड़ती है—'पंडिताऊपन' भी थोड़ा-बहुत मिलता है।

(६) वे बोलचाल के शब्दों के व्यावहारिक रूप का अधिक ध्यान रखते हैं। उनके प्रयुक्त शब्द कान को नहीं खटकते, जैसे भलेमानस, दिआ, मुनी, आपुस, लच्छन, ओलती, आँचल, ओकन अगनित, अचरज आदि।

(७) कुछ ऐसे प्रयोग है, जैसे (भई) हुई, करके (कर) कहते हैं (कहलाते हैं), सो (यह), होइ (होही) इत्यादि, परन्तु इनके लिए भारतेन्दु दोषी नहीं ठहरते, क्योंकि अब तक न तो कोई आदर्श ही उपस्थित हुआ था और न भाषा का कोई व्यवस्थित रूप ही था। दूसरी बात यह कि इन प्रयोगों का उनकी रचनाओं के विस्तार में पता ही नहीं चलता।

(८) उनकी भाषाशैली में व्याकरण की कुछ भूलें भी हैं, जैसे श्यामता के लिए श्यामताई, अधीरमना के लिए अधीरजमना,

'कृपा की है' के लिए 'कृपा किया है।' उस समय तक व्याकरण संबन्धी नियमों का विचार नहीं हुआ था, अतः वे क्षम्य हैं।

अंत में हम इस प्रकरण को एक संतुलित वक्तव्य से समाप्त करते हैं—'यद्यपि भारतेन्दु जी की साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उसका महत्त्व उसके कारण इतना नहीं है जितना हिन्दी भाषा को संजीवनीशक्ति देकर उसे देशकाल के अनुकूल सामर्थ्ययुक्त बनाने और देशहितैषिता के भावों को अपने देश-वासियों के हृदय में उत्पन्न करने में था। लल्लूजीलाल ने जिस भाषा को नया रूप दिया, लक्ष्मणसिंह ने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित और सुन्दर ढाँचे में ढालने का श्रेय भारतेन्दु जी को प्राप्त है। उनके समय में भी इस बात का झगड़ा चल रहा था कि हिन्दी उर्दू-मिश्रित हो या नहीं? राजा शिवप्रसाद जी उर्दू-मिश्रित भाषा के पक्षपाती थे और उर्दू-शैली के पृष्ठपोषक थे। भारतेन्दु जी ने इसके विरुद्ध शुद्ध हिन्दी का पक्ष लिया और उसको नये साँचे में ढालकर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा में माधुर्यगुण की प्रचुरता है तथा वह प्रौढ़ता और परिमार्जितता से संपन्न है।' (भारतेन्दु हरिश्चंद—श्यामसुंदरदास)

६

भारतेन्दु की विचारधारा

भारतेन्दु दो युगों की संधि पर खड़े हैं। उनकी भाव-धारा और विचार-धारा में बहुत कुछ प्राचीन है, परन्तु नवीन भी कम नहीं है। परवर्ती कवियों और लेखकों ने उनकी नवीन विचार-धारा एवं भाव-धारा को विकसित किया। प्राचीनता कुछ ही बाद पीछे छूट गई। इस युग के साहित्य को समझने के लिए भारतेन्दु की विचार-धारा को समझना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है।

१—धर्म

भारतेन्दु वल्लभकुल में दीक्षित कृष्ण-भक्त थे। उनकी पहली ही कविता में इसका प्रकाशन हुआ है—

हम तो मोलि लिए या घर के
दास दास श्रीवल्लभ कुल के चाकर राधा बर के
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धुदास गुन करके
हरीचंद तुमरे ही कहावत नहिं विधि के नहिं हर के

ये अष्टछाप की परम्परा के अंतिम महान् कवि हैं। उनकी भक्ति-भावना उनके दो सहस्र पदों और फुटकर रचनाओं में प्रगट है। "चन्द्रावलि" उन्हीं का भक्त व्यक्तित्व है। 'भक्त-सर्वस्व' में उन्होंने राधा-कृष्ण के चरण-चिन्हों का वर्णन किया है। उनके अन्य ग्रंथ हैं: कृष्ण सम्प्रदायों का इतिहास (वैष्णव सर्वस्व), वल्लभाचार्य का चरित (श्रीवल्लभीय सर्वस्व), नित्यलीला के निकुञ्ज सखा-सखी, सहचारी, सेवक आदि का नाम-रूप-वर्णन (श्रीयुगल

सर्वस्व)। इनके अतिरिक्त उन्होंने वल्लभीय पूजा-पद्धति और व्रत-उत्सवों आदि पर भी वैष्णव आचार्यों की भाँति बहुत कुछ लिखा, जैसे—१ मार्गशीर्ष महिमा (माघ स्नान महिमा के अतिरिक्त स्नान-विधि और मन्त्र द्वारा स्वीय अर्घदान इत्यादि), २ पुरुषोत्तम मास विधान, ३ कार्तिक नैमित्तिक कृत्य, ४ कार्तिक कार्यविधि (सं० १९२२), ५ वैशाख महात्म्य, ६ उत्सवावली, ७ उत्तरार्द्ध भक्तमाल ८ शांडिल्य, ९ शांडिल्यसूत्र की भाषा, १० श्री तदीय सर्वस्व (नारद-भक्तिसूत्र का बृहत् भाष्य) इनके अतिरिक्त "अष्टदश पुराण की उपक्रमणिका" में उन्होंने एक बृहत् सूचनिका उपस्थित की है। इन ग्रन्थों से हमें उनके संस्कृत धर्म-साहित्य के गहरे अध्ययन का पता चलता है। वह युग धार्मिक वितंडावाद का युग था। १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना हुई परन्तु धार्मिक वितंडावाद उससे पहले ही जोरों से चल रहा है। १८६० ई० के बाद स्वामी दयानन्द प्रचार-क्षेत्र में प्रबलता प्राप्त कर रहे थे। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज ने हिन्दू पुराण-पंथियों में खलबली पैदा कर दी। उन्होंने इन आन्दोलनों का बड़ी सतर्कता और तीव्रता से प्रतिरोध किया। स्वयं उन्होंने धर्म संस्कार की चेष्टा की और अपने धर्म को उदाररूप देने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु इन्हीं उदार-भाव हिन्दू नेताओं में थे। वे आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के विरोधी नहीं थे। उनके तत्सम्बन्धी विचार उनके निबंध—'स्वर्ग में केशवचंद सेन और दयानन्द' में देखे जा सकते हैं। परन्तु वे वैष्णव धर्म में ही नवीनता और उदारता का समावेश कर उसे संस्कृत और समयोपयोगी बना देना चाहते थे। उनका साम्प्रदायिक दृष्टिकोण इस पद से प्रगट होता है—

खेलन में कबहूँ जौ आँचर उड़त बालवस जाको
रिसि मुनि पंडितहू हरि मानत परम धन्य करि ताको

परम पुरुष जो जोग जग्य तप क्यों हूँ लख्यौ न जाई
सो जो पद रजनम निगिवागर तुरतहि प्रगटत आई
ग्राम-वधूटी जा कटाच्छवग उभा रमाहिं लजावै
हरीचंद तें महामूढ़ जे इनहिं न अनुछिन ध्यावै

परन्तु उन्होंने अनेक नवीन समाजोपयोगी उपकरण भी अपना लिये थे जैसा उनके नाटकों, निबन्धों और व्याख्यानों से प्रगट है और इस प्रकार एक नवीन 'सामान्य हिन्दूमत' की नींव उन्होंने डाली। इस नवीन हिन्दूमत के उपासकों ने ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और ईसाई मत तीनों का मुकाबिला किया। ईसाई पादरी ईशु ख्रीष्ट और ईश कृष्ण का सम्बन्ध जोड़ते थे। हरिश्चन्द्र ने 'ईशु ख्रीष्ट और ईश कृष्ण' निबंध में पश्चिमी धर्म, जन-कथा, नीति सभी को भारत का ऋणी सिद्ध किया है। 'संसार के धर्माचार्य-मात्र ने भारतवर्ष की छाया से अपने-अपने ईश्वर, देवता, धर्म-पुस्तक, धर्म-नीति और मित्र चरित्र निर्माण किया है।' संसार के सब देवता भी भारतवर्ष ही के देवगण की छाया हैं। 'नीति सम्बन्धी भी यावत् गल्प भाग इसी भारतवर्ष से फैलकर और स्थानों में गई हैं।' इस प्रकार की भाव-धारा बाद के लेखकों, विशेषतया पं० प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में पूरे उत्कर्ष में मिलती है।

भारतेन्दु की पहली रचना 'तहकीकात पुरी की तहक़ीक़ात' में ही हम उन्हें समालोचक, संस्कृतज्ञ, धर्मभाव के विषय में जिज्ञासु और क्रान्तिकारी पाते हैं। आगे ये विशेषताएँ क्रमशः प्रौढ़ होती गई हैं। 'कुरानशरीफ़' और 'कुरान दर्शन चक्र' से हम उनकी विस्तृत धार्मिक सहानुभूति से परिचित होते हैं।

यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु साधारणतः सनातनी हिन्दू दृष्टि-कोण और प्रधानतः वैल्लभीय कुल के आचार-विचारों, पूजा-पद्धतियों, उत्सवों-व्रतों आदि से भली भाँति परिचित थे और साधारण जनता को इनसे परिचित कराने के विचार से उन्होंने इस

प्रकार का बहुत-सा साहित्य हिन्दी में उपस्थित किया था। आज भी कितने हो सम्प्रदाय वाले अपने साहित्य और धर्मरीतियों को प्रकाशित नहीं कर रहे हैं, इससे भारतेन्दु की प्रगतिशीलता ही प्रकाश में आता है। वे समय के आगे चलनेवाले व्यक्ति थे। इसीसे उन्हें पग-पग पर लांछना और अपमान उठाना पड़ा। उनका युग उन्हें समझ नहीं सका है। जब हम देखते हैं कि इस एक ही व्यक्ति ने नाटक, कविता, आख्यान, जन-साहित्य के साथ जनता के लिए स्मृति (धर्म-विधायक) ग्रंथों को भी नहीं भुलाया, तब हमें उनकी बहुविधि प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। उस धर्म-संघर्ष के युग में जनता को शास्त्रोक्त आचार-विचार विधि से परिचित कराना आवश्यक था। श्रद्धाराम फुल्लौरी जैसे नेता यही कर रहे थे। भारतेन्दु ने भी इस आन्दोलन में योग दिया। उन्होंने वल्लभकुल-सम्बन्धी विधि-साहित्य का हिन्दी में रूपान्तर कर और उसकी व्याख्या कर जनता में धर्म-भावना दृढ़ रखने की चेष्टा की। उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दू पुनरुत्थान के उन्नायकों में फुल्लौरी और भारतेन्दु महत्त्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों का साहित्यिक महत्त्व अधिक नहीं है, परन्तु इनसे भारतेन्दु की गति-विधि का परिचय हो जाता है और उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों के इतिहास में उनका स्थान निश्चित किया जा सकता है।

२—समाज

अपने युग के महानुभावों के समान ही भारतेन्दु की दृष्टि भी सामाजिक आचार-विचारों और कुरीतियों पर तीव्रता से पड़ी और उन्होंने इन कुरीतियों के निवारण के लिए लेखनी, व्याख्यान और कविता का आश्रय लिया। इस तरह वे राजा राम-मोहन राय और स्वामी दयानन्द की श्रेणी में आते हैं। यद्यपि उन जैसा स्वच्छंद और लोकलिप्त पुरुष किसी नये समाज की स्थापना

नहीं कर सकता था, परन्तु यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने युग में समाजोपयोगी विचारों को फैलाने में बड़ी सहायता दी।

सं० १९३० (१८७३ ई०) में भारतेन्दु ने "तदीय समाज" नाम की संस्था की स्थापना की। उद्देश्य था- "यद्यपि इस समाज से जगत् और मनुष्यों से कुछ संबन्ध नहीं तथापि जहाँ तक हो सकेगा शुद्ध प्रेम की वृद्धि करेगा और हिंसा के नाश करने में प्रवृत्त होगा"। उस उधेड़-बुन के युग में यह प्रेम का संदेश क्रांतिकारी संदेश था। इस समाज के 'प्रतिज्ञापत्र' को हरिश्चंद ने ही बनाया था। मूल में यह वैष्णव भक्त-समाज का आयोजन था। कदाचित् आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि के प्रहारों से वैष्णवधर्म की भित्ति हिलती देख-कर ही इस समाज की कल्पना की गई थी। "यद्यपि यह समाज प्रेम और धर्म सम्बन्धी था, परन्तु इससे कई एक बड़े-बड़े काम हुए थे। इसी समाज के उद्योग से दिल्ली दर्बार के समय गवर्नमेंट की सेवा में सारे भारतवर्ष की ओर से कई लाख हस्ताक्षर कराके गो-वध बन्द कराने के लिए अर्जी दी गई थी। गो-रक्षा के लिए 'गो-महिमा' प्रभृति ग्रंथ लिखकर बराबर ही आन्दोलन मचाते रहे। लोग स्थान-स्थान में 'गोरक्षिणी सभाओं' तथा गोशालाओं के स्थापित होने के सूत्रधार मुक्तकंठ से इनको और स्वामी दयानन्द सरस्वती को मानते हैं। इस समाज ने हजारों ही मनुष्यों से प्रतिज्ञा लेकर मद्य और मांस का व्यवहार बन्द कराया था। उस समय तक यहाँ कहीं (Total Abstinence Society) का जन्म भी नहीं हुआ था। इस समाज की ओर से हजारों प्रतियाँ दो प्रकार की चेकबही की भाँति छपवा कर बाँटी गई थीं, जिनमें से एक पर दो साक्षियों के सामने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की जाती थी कि मैं इतने काल तक शराब न पीऊंगा और दूसरे पर मांस न खाने की प्रतीज्ञा थी। इस समाज ने बहुत से लोगों से प्रतिज्ञा कराई थी—कि जहाँ तक संभव होगा वे देशी पदार्थों

का ही व्यवहार करेंगे।" (राधा० ग्रंथावली, पृ० ३७६)। सन् १८६७ ई० में उन्होंने "चौखंभा स्कूल" स्थापित किया। पहले यह अपर प्राइमरी था, बाद में मिडिल हुआ, अब हरिश्चंद हाईस्कूल है। इस प्रकार उन्होंने अँग्रेजी शिक्षा को समाज के लिए उपयोगी स्वीकार किया परन्तु इसका कारण उनकी अँग्रेजी भाषा या अँग्रेजी साहित्य-संस्कृति से मोह नहीं था—इसलिए कि उस समय यही भाषा नए समाजोपयोगी विचारों की वाहन थी। "प्रेमयोगिनी" नाटिका से उनकी समाजोपयोगी क्रांतिकारी प्रवृत्ति का पता चलता है। इसमें अदम्य साहस से मंदिरों और तीर्थवासी ब्राह्मणों का रहस्योद्घाटन किया गया है। "उस समय की अवस्था दिखाने के लिए ही "प्रेमयोगिनी" नाटक लिखना आरंभ किया था जो अधूरा ही रह गया, परन्तु उस उतने ही से उस समय का बहुत कुछ पता लगता है। उनका आदान-प्रदान भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग से चलता था। अँग्रेजों से अधिक व्यवहार होता देख उनका विरोध हुआ तो उन्हें "अंग्रेज स्तोत्र" लिखना पड़ा, इसी प्रकार "जैनमन्दिर" में जाने के कारण वे नास्तिक और धर्म-बाह्यमुख माने जाने लगे तो उन्होंने "जैन-कुतूहल" की रचना की। उनके इस उद्धरण से उनकी सामाजिक प्रगतिशीलता का पता चलता है। वे ब्राह्मणों के विरोध में कहते हैं—

> बिधवा ब्याह निषेध कियो, विभिचार प्रचारयो
> रोकि विलायत गमन कूपमंडूक बनायो
> औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो
> बहु देवी।देवता भूत प्रेतादि पुजाई
> ईश्वर सों सब विमुख किए हिंदुन घबराई
> अपरस सोल्हा छूत रचि भोजन प्रीति छुड़ाई
> किए तीन तेरह सबै चौका चौका लाई

इससे यह प्रगट है कि समाज के छोटे से छोटे दुर्गुण पर उनकी

दृष्टि गई और उन्होंने उसका बहिष्कार करने की चेष्टा की, चाहे विरोध में उन्हें कुछ भी क्यों न कहा गया।

हिन्दू स्त्री-समाज की दुर्दशा पर उन्हें विशेष खेद था। उन्होंने अपने घर पर ही 'कन्या हाई स्कूल' खोला और 'बाला-बोधिनी पत्रिका' का जन्म दिया, यद्यपि वह एक वर्ष से अधिक नहीं चल सकी। 'नीलदेवी' की रचना ही इस कारण हुई कि वे समसामयिक दुर्बल हिंदू नारी के सामने वीरता का आदर्श रखना चाहते थे। भूमिका में वे लिखते हैं—"अब मुझे अँगरेजी रमणी लोग × × कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधीसाधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को नहीं कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौराङ्गनी युवती समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का कामकाज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृहदेवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।" इन शब्दों में कितनी वेदना है। हिन्दी प्रदेश में इस समय नारी-जीवन के संबंध में ऐसे भाव आर्य समाजियों के भी न थे, सनातनधर्मी 'कुल परंपरा-मार्ग' पालन करनेवालों की तो बात ही क्या!

३—राजनीति

राजनीति के संबंध में भारतेन्दु की प्रगतिशीलता

की विशद विवेचना हमने उनकी राष्ट्रीय और सामयिक कविता के प्रकरण में की है। एक समय था जब भारतेन्दु पूर्णतया राजभक्त थे और उनकी देशभक्ति राजभक्ति का ही दूसरा नाम थी। परन्तु जब 'कविवचनसुधा' के 'पंच' ने उन्हें सुझा दिया कि वे राजभक्त होते हुए अनेक समाजोपयोगी काम नहीं कर सकते, तब उनको यह अच्छी तरह प्रगट हो गया कि राजभक्ति और देशभक्ति के स्रोत अलग-अलग हैं। परन्तु अंतिम समय तक ही वह इस विरोध का भलीभाँति अनुभव कर पाये थे। भारतीयों की प्रार्थनाओं की असफलता और दुर्भिक्ष-महामारी आदि दैवी आपदाओं ने उनकी आँखें खोल दी थीं। उन्होंने अधिकारियों का सक्रिय विरोध कहीं भी नहीं किया, परन्तु उन्हें "चिढ़ाने" में उन्हें मजा आता था, ऐसा कहने के लिए हमारे पास प्रमाण हैं। अपनी सभी देशोपयोगी योजनाओं में उन्होंने अँग्रेजी-राज, उसके अधिकारियों और बड़े-बड़े स्तंभों की उपेक्षा की और साधारण जनता की नव-नवोन्मेषशाली बलवती प्रतिभा पर अपना विश्वास दृढ़ रखा। उन्होंने जनता को ललकारा—

नर सरीर में रत्न वही जो परदुख साथी
खात पियत अरु स्वसत स्वान मंडुक अरु माथी
तासौं अब लौं करो, करो सो, पै अब जागिय
गोस्रुति भारतदेस समुन्नति मैं नित लागिय
('अंधेरनगरी' का समर्पण)

जब "भरतदुर्दशा" में कई पात्र इस बात पर सोच रहे हैं कि अँग्रेजों को देश से कैसे निकाला जाय, तब देशी (दूसरे शब्दों में 'भारतेन्दु') कहते हैं—

"हाय, यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एकचित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जायगा।"

ऐसी बातों से कुछ लोग भारतेन्दु को सरकार-भक्त कहते हैं और उनकी शुद्ध राष्ट्रीयता पर संदेह करते हैं —"जो महात्मा देश के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने को सदा उद्यत रहे, जिसको बात-बात में अपने देश का स्मरण हो आवे और जो उसके उदय के संबंध में अपने स्वतंत्र विचारों को प्रकट करने में कभी आगा-पीछा न करे, वही एक राजा के गद्दी पर बैठने आने पर आनन्द मनावे और भाषा लिखकर प्रशस्ति में "अंगरेजन को राज ईस इत चिर करि थापे" तक कह डाले !"

(भारतेन्दु-ग्रंथावली की भूमिका, पृ० १४)

परन्तु भारतेन्दु सरकार की संदेहवृत्ति पर भी व्यंग करने से बाज नहीं आते। 'भारतदुर्दशा' में डिसलाइलटी कहता है—"हम क्या करें, गवर्नमेंट की यही पालिसी है (कि जो लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हों, वे पकड़े जायँ।)" इस प्रकार भारतेन्दु ने सरकार के कार्यों के प्रति स्थान-स्थान पर क्षोभ प्रगट किया है। उन्हें सरकार भक्त कहना पाप है। उनके 'सरकार प्रशस्ति' के उद्गारों को उपयुक्त वीथिका में रखने की आवश्यकता है। भारतेन्दु का सच्चा रूप देखना है तो वह व्याख्यान पढ़िए, जो उन्होंने बलिया की सभा में दिया था—"अपनी खराबियों के मूल कारण को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कुछ सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ-वहाँ से पकड़कर लाओ। उनको बाँध-बाँध कर क़ैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी, उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नतिपथ की काँटा हों, उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ-दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाले जायँगे, क़ैद

न होंगे, वरंच जान से न मारे जायेंगे तब तक कोई देश भी न सुधरेगा।" "जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिलती है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इँगलैंड, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दियासलाई जैसी तुच्छ वस्तु भी वहाँ से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहनते हो, वह अमेरिका की बिनी है। जिस लंकलाट का तुम्हारा अंगा है, वह इङ्गलैंड का है। फँरासीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है।" "जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो; परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा की उन्नति करो।"

१०

भारतेन्दु और उनका युग

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने लगभग आधी शताब्दी के हिंदी साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को इतना अधिक प्रभावित किया है कि इन पचास वर्षों को स्वभावतः उन्हीं का युग कह दिया जाता है। आधुनिक हिंदी-साहित्य का सबसे पहला युग यही 'भारतेन्दु युग' (१८५०-१९००) है। १८५० ई० में भारतेन्दु का जन्म हुआ और १८८५ ई० में वह गोलोकवासी हो गये, परन्तु अठारह वर्ष के अपने लेखक-जीवन में उन्होंने हिंदी भाषा, हिंदी कविता, हिंदी नाटक, हिंदी कथा-वार्ता सबमें नये प्राण डाल दिये। यही नहीं, उन्होंने अपने युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक चेतना को अपने समय के सब लेखकों और विचारकों से अधिक प्रगतिशील रूप में अपनाया। वे अधिक जिये नहीं, उन्होंने अपने जीवन से खेल किया और उसका फल पाया, परन्तु हिंदी-साहित्य में जिन नई शक्तियों को उन्होंने गति दी, वे शताब्दी के अंत तक उन्हीं के दिखलाये हुए मार्ग पर बल प्राप्त करती रहीं।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व और उनकी प्रगतिशीलता को समझने के लिए अठारहवीं शताब्दी और १९वीं शताब्दी के पहले पचास वर्षों को सामने रखना अच्छा होगा। अठारहवीं शताब्दी हिंदुओं के पुनरुत्थान का युग था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिंदुओं ने फिर अग्रगामी होना आरम्भ कर दिया था। मरहठा, सिख, जाट और गोरखा नई हिंदू शक्तियाँ थीं जिन्होंने मुग़ल

साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई शताब्दियों की मूर्च्छा के बाद हिंदुओं में फिर प्रतिभा के दर्शन हुए। जगन्नाथ तर्कपंचानन रामशास्त्री, अप्पय दीक्षित, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य और महाराज जयसिंह (द्वितीय) जैसे विद्वान और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति सत्रहवीं शताब्दी में नहीं मिलेंगे। १७५७ ई० की पलासी की लड़ाई ने देश को एक नई विदेशी शक्ति के हाथों सौंप दिया। परन्तु सद्य:जाग्रत हिंदू-प्रतिभा में बराबर उन्मेष होता रहा। नई विदेशी शक्ति भारतवर्ष में पैर जमा सके, इसके कई कारण थे, परन्तु एकमात्र हिंदू इसके लिए उत्तरदायी नहीं थे। जब उन्होंने विस्मय से देखा कि मीरजाफर और बहादुरशाह ने देश का एक महत्वपूर्ण भाग गोरे लोगों को सौंप दिया है, तो वे छटपटाते रह गये। दिल्ली के शहंशाह बहादुरशाह ने बंगाल और बिहार की दीवानी सौंप कर जिस दुर्बलता की सूचना दी थी और जिस दासता का आवाहन किया था, उस पर मीरजाफर ने दो शताब्दियों की ग़ुलामी की छाप लगा दी। इस नई विदेशी शक्ति ने नई राजनीति के साथ नये समाज, नये व्यवहार, नई संस्कृति और नए धर्म से हिंदुओं को परिचित कराया। राजनीति समाज, लोक-व्यवहार, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में नई जिज्ञासाओं ने जन्म लिया।

भारतेन्दु के जन्म (१८५०) तक इन नई शक्तियों और पुरानी शक्तियों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। राजनीति के क्षेत्र में किसी नई व्यवस्था की बात तो थी नहीं—'साम्राज्यवाद,' 'समाजवाद,' 'साम्यवाद' इनसे अभी संसार अपरिचित था। ये तो नए शब्द हैं जो अब गूँजने लगे हैं। उस समय तो मुसलमान राज्य, हिंदू राज्य और अँग्रेज राज, ये ही तीन राजनैतिक आदर्श थे। हिंदुओं में १८वीं शताब्दी में राजनैतिक चेतना आई थी, परन्तु वह अभी अधिक विकसित नहीं हो पाई थी कि उसका लोप हो

गया। मुसलमान और अंग्रेज राज्य में से एक को चुनना पड़े तो लोग क्या चुनेंगे, यह साफ़ था। इस्लामी राज्य की उच्छृङ्खलता का स्वाद लोग पा चुके थे। अतः नई राजनीतिक शक्ति का स्वागत ही हुआ। उसके आर्थिक और साम्राज्यवादी पहलू को तो भारतेंदु ने ही पहली बार जनता को समझाया और 'अपना देश, अपना राज' की बात चलाई। १८५७ ई० के विद्रोह के बाद इतना भी कहना बड़े साहस का काम था। आश्चर्य तो यह है कि भारतेन्दु ने इतना कहा। उन्नीसवीं शताब्दी की दो महान शक्तियों दया-नंद और भारतेन्दु को समझने के लिए 'विद्रोह' की बात को भी साथ लेना पड़ेगा। आज जिस साहस के साथ जिन खुले शब्दों में हम सरकार के विरुद्ध कुछ कह सकते हैं, वह इनके लिए नहीं था। फिर भी धर्म, भाषा, साहित्य और लोक-जीवन में सुधार-भावना के माध्यम से उन्होंने जनता को आगे बढ़ाया। १८६७ ई० में जब भारतेन्दु ने कलम सँभाला, तो देश पर अँगरेजी शासन दृढ़ता से स्थापित हो चुका था, जिस धार्मिक निष्पक्षता की घोषणा विक्टोरिया ने कर दी थी, उसका पालन अक्षरशः हो रहा था, धर्म प्राण हिंदू जनता इतने से ही प्रसन्न हो 'चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी' की धुन अलाप रही थी। भारतेन्दु ने इस्लामी और अंग्रेजी 'शासन' के भेद को जनता को समझाया और 'पंचनद', 'पानीपत' और 'चित्तौर' की ओर मुँह कर ललकार दी। 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती' में उन्होंने लिखा—

"हाय पंचनद, हा पानीपत
अजहूँ रहे तुम धरनि बिराजत
हाय चितौर निलज तू भारी
अजहूँ खरौ भारतहिं मँझारी।४६
जा दिन तुव अधिकार नसायो
ताही दिन किन धरनि समायो

रह्यो कलंक न भारत-नामा
क्यों रे तू वाराणसि धामा ।४७
इनके भग कंपत संसारा
सब जग इनको तेज पसारा
इनके तनहि भौंह हिलाए
थर थर कपत नृप भय पाए ।४८

ग़दर के बाद इतनी राष्ट्रीयता भी कितने साहस की बात होगी, यह समझना आज कुछ कठिन है।

उन्नीसवीं शताब्दी में समाज में एक नई क्रांति होने लगी। अब तक हमारे समाज में अमीर-उमरावों को महत्त्व था। सत्ता सामन्तवादी थी। अब अमीर-उमरावों का महत्त्व कम होने लगा और समाज-व्यवस्था तथा राजनीति में व्यापारी वर्ग को विशेष महत्त्व मिलने लगा। जिस ब्रिटिश-राष्ट्र से हम संबन्ध सूत्र में बँधे, वह एक व्यापारी राष्ट्र था और जिस अंग्रेज संस्कृति से हमारा परिचय हुआ, वह एक व्यापारी संस्कृति थी। हिन्दू व्यापारियों ने इस विदेशी राज्य और विदेशी संस्कृति को भारत-वर्ष पर लादने के लिए कम देशद्रोह नहीं किया था। स्वरूपचंद गुप्त और बङ्गाल के जगत्सेठ अमीचंद को मीरजाफ़र से कम श्रेय नहीं मिलना चाहिये! इस देश के व्यापार और उद्योग-धन्धे प्रायः पूरी तरह हिन्दू लोगों के ही हाथ में थे, इसलिए व्यापार के लिए आकर बसने वाले योरपीय व्यापारियों का स्वभावतः ही उनसे निकट संबन्ध बंधा और इस भौतिक स्वार्थ के आधार पर हिन्दू और योरपीय व्यापारियों का एक प्रकार का गुप्त गुट्ट ही इस समय बन गया था ('१७५६-५७ ई० में का बङ्गाल' : एस० सी० हिल) "ब्रिटिश-शासन में उत्कर्ष पाने वाला यह नया व्यापारी और सुशिक्षित वर्ग इस समय, अर्थात् १८२६ के आस-पास, अंग्रेजी शासकों के गुणगान करने में और लोगों को इस बात का

क़ायल करने में कि पहले के जमींदार वर्ग के ज़ालिम शासन से मुक्त करने वाला ब्रिटिश राज्य ईश्वर का प्रसाद है और उनकी उन्नति में बाधक विदेश-यात्रानिषेध आदि सामाजिक और धार्मिक बन्धनों के खिलाफ बग़ावत करने में अपने को धन्य मान रहा है।" (आधुनिक भारत : आचार्य जावड़ेकर)। धीरे-धीरे सुशिक्षित मध्यम वर्ग पुराने सामाजिक और धार्मिक बन्धनों को तोड़ने लगा। जब बहुत दिन के बाद वह राजनीति की ओर मुड़ा, तो उसने देखा, देशी व्यापारियों के हाथ से व्यापार निकल कर विदेशियों हाथ में चला गया, उद्योग-धंधे नष्ट हो गए हैं, राजसत्ता उनके हाथ में नहीं है, अकाल और मंहगी का राज्य है।

इसी समय भारतेन्दु का जन्म हुआ। अंग्रेजी राज्य कुछ व्यापारिक वर्ग और अत्यंत दरिद्र और अरक्षित लोगों के अनुकूल हुआ था। परन्तु हिन्दुस्तान के उच्च वर्ग और सैनिक वर्ग पर उसका बहुत ही प्रतिकूल परिणाम हुआ। फलस्वरूप, १८५७ ई० का विद्रोह। विद्रोह के बाद मध्यवर्ग में एक नई उथल-पुथल मच गई। भारतेन्दु का साहित्य इस उथल-पुथल का एक सुन्दर चित्र हमें दे देता है। तब तक राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हुआ था। भारतेन्दु का सारा साहित्य १८५७ ई० की पराजित भावनाओं से से ऊपर उठकर देश के आगे बढ़ने और राष्ट्रीयता के जन्म की कहानी है।

परन्तु राष्ट्र-भावना का जन्म एक दिन में नहीं हो गया। विदेशी शिक्षा ने सबसे पहले समाज को प्रभावित किया। "इस युग के प्रारम्भ में पश्चिमी शिक्षा से नास्तिकता और पाखण्डवाद की ऐसी लहर उठी थी कि उसने जैसा कि कितने ही लोग कहते हैं, शीघ्र ही सारे देश में फैलकर हिन्दुधर्म को जड़ से उखाड़ फेंक दिया

होता ।" (नवयुग धर्म : श्री सदाशिव कृष्ण फड़के) । परन्तु राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द, श्रद्धाराम फुल्लौरी, नवीनचंद्र राय जैसी शक्तियों ने इस नास्तिकता और पाखंडवाद की धारा का विरोध किया । साथ ही वे एकदम पुरातनवादी भी नहीं बने । १८६७ में आचार्य डा० भाण्डारकर और रानाडे ने बंबई में प्रार्थना समाज की स्थापना की । भारतेन्दु ने 'तदीय समाज' की नींव डाली । ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि नवीन भक्ति-आन्दोलनों का हिन्दी प्रदेश पर गहरा प्रभाव पड़ा । इन आन्दोलनों के फलस्वरूप हिन्दी-प्रदेश में ईसाई पादरियों को वह सहायता नहीं मिली जो दक्षिणी प्रदेशों में मिली । हिन्दी ईसाई साहित्य ईसाइयों के इस ओर किये प्रयत्नों का परिणाम है । 'भारतेन्दु युग' के साहित्य का एक बड़ा भाग धर्मचेतना से अनुप्राणित है । एक नये धर्म से लोहा लेने की भावना इस साहित्य में भरी पड़ी है । आर्यसमाज तो ईसाई धर्म का एक निश्चित अखाड़ा है ही । परन्तु प्रतापनारायण मिश्र, और स्वयं हरिश्चंद के साहित्य में यह भाव विशेष रूप से मिलेगा ।

भारतेन्दु के समय अन्य प्रांतों में भी नई प्रगतिशील शक्तियों का जन्म हो चुका था । महाराष्ट्र में चिपलूणकर, आगरकर और तिलक और बङ्गाल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी । १८५२ में दादाभाई ने बम्बई में 'बांबे असोसिएशन' की स्थापना की । एक वर्ष पहले राजेन्द्रलाल मिश्र और प्रसन्नकुमार ठाकुर बंगाल में ब्रिटिश इंडिया असोसिएशन की स्थापना कर चुके थे और लगभग इसी समय मद्रास का 'मद्रास नेटिव असोसिएशन' और 'डकन असोसिएशन' (पूना) । १८६६ में केशवचंद्र ने ब्रह्मसमाज की नई शाखा स्थापित की और १८७५ में स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की । इसके बाद सबसे बड़ी प्रगतिशील संस्था 'कांग्रेस' का जन्म होता है (१८८५) ।

कांग्रेस की स्थापना से पहले के समय में जो उग्र विचार-धाराएँ थीं उनसे भारतेन्दु के प्रगतिशील विचारों की तुलना सहज ही की जा सकती है। हमने भारतेन्दु को विचारधारा का विश्लेपण करते हुए उनकी प्रगतिशीलता की विवेचना की है। "इस समय समग्र देश में जागर्ति की लहर फैल रही थी। जनता के सामने नवीन धार्मिक और सामाजिक समस्याएँ खड़ी हो गई थीं। आर्यसमाज का आन्दोलन हिंदुओं की सामाजिक तथा धार्मिक कुप्रथाओं का तीव्र रूप से प्रतिवाद कर रहा था। नवीन सामाजिक भावनाओं से प्रभावित पढ़े-लिखे लोगों में इस आन्दोलन का स्वागत हो रहा था। ऐसी परिस्थिति ने धीरे-धीरे राजनीतिक मनोदृष्टि में भी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।

भारतीय इतिहास की यह अत्यंत आश्चर्यपूर्ण घटना है कि राजनीतिक परिवर्तन सदा धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलनों का अनुगामी रहा है। जैसी घटना मरहठा-संघ के स्थापित होने के पहले घटी वैसी ही उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में थी। हिंदुओं के सामाजिक एवं धार्मिक पुनरुत्थान से ही भारत के आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रकार इस समय के सामाजिक आंदोलन जनता की राजनीतिक चेतना के अग्रदूत थे। सुधार और व्यवस्था की भावना एक बार जाग्रत होते ही अपने आप जीवन के सभी प्रश्नों पर छा गई। सामाजिक अभाव तथा दुरावस्था की चेतना ने आर्थिक कठिनाई की ओर बरबस ध्यान आकृष्ट किया तो आर्थिक परवशता ने विदेशी शासन की ओर संकेत किया" (आधुनिक काव्यधारा पृ० २१-२२)। भारतेन्दु ने इस युग की सामाजिक और धार्मिक क्रांति में कितना महत्त्वपूर्ण भाग लिया, यह केवल उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों के पढ़ने से समझ में नहीं आ सकता, आभास चाहे भले ही मिले। भारतेन्दु का व्यक्तित्व कितना सर्वग्राही था, यह इसी बात से प्रगट

है कि अपने समय के लगभग समस्त आन्दोलनों में उन्होंने सक्रिय भाग लिया, लेखनी, वाणी, कर्तृत्व सभी का प्रयोग उन्होंने इन आंदोलनों को बल देने के लिये किया और इस युग के लगभग सभी महापुरुष, नेता, कवि, लेखक, विचारक उनके संपर्क में आये और लाभान्वित हुए।

भारतेन्दु में पुराना भी बहुत कुछ है, यह हम पहले ही बता चुके हैं, विशेषकर उनकी कविता में। परन्तु यह उन पर कोई लांछा नहीं है। वह नये युग के बैतालिक थे। प्राचीन युग की ड्योढ़ी पार कर उन्होंने ही पहले नये जीवन के प्रभात में प्रवेश किया था। अपने साथ वह बहुत-सा पुरानापन भी ले आये, परन्तु उनकी प्रशंसा यही है कि वे नई शक्तियों के केन्द्र बन गये। उनकी रूढ़ि-गामिता उनके काव्य के कुछ भागों तक ही सीमित रही। परन्तु काव्य में भी नई सामयिक और तात्कालिक प्रवृत्तियों का श्रीगणेश उन्होंने ही किया। वर्णाश्रम, अशिक्षा-निवारण, बालविवाह, विधवाविवाह, समुद्रयात्रा, गोरक्षा, अकाल, मन्दी, तात्कालिक साम्राज्यवादी युद्धों और करवृद्धि की आलोचना—नई कविता के ये विषय भारतेन्दु ने ही हमें दिये, यद्यपि बदरीनारायण प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने इस प्रकार की कविता में विशेष योग दिया। फिर खड़ीबोली में सबसे पहले प्रयोगात्मक छंद उन्हीं के हैं। उन्होंने कविता के सभी क्षेत्रों को छुआ। कृष्ण काव्य, रामकाव्य, रीतिकाव्य, संतकाव्य सभी कुछ वहां है। बहुत कुछ अनुकरण मात्र। बहुत कुछ मौलिक। परन्तु रीतिकाल के कवियों की तरह वे साहित्य के 'कठघरे' में बन्द नहीं रहे। उन्होंने साहित्य में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति की चाल चलाई। जन-साहित्य की ओर उन्होंने पहली बार इशारा किया। साहित्य को केवल कुछ गिने-चुने मित्रों की गोष्ठी से निकाल कर गाँव-गाँव, घर-घर जनता को

बोली में जनता के पास पहुँचाने की स्कीम उन्होंने देश के सामने रखी। वे नहीं रहे, उनका कार्य अधूरा रह गया। परन्तु इससे उनका श्रेय तो नहीं छिन जाता। रीतिकाव्य और भक्तिकाव्य की परंपरागत कविताओं के सामने नये जीवन की जागरण भेरी फूँकना कम साहस का काम नहीं था।

कविता ही नहीं नाटकों में भी भारतेन्दु ने कुछ नई प्रवृत्तियाँ जोड़ीं। उनके अधिकांश नाटक या तो संस्कृत से अनूदित हैं, या उनपर रीतिशास्त्र और धर्म का प्रभाव है, परन्तु बंगाल के प्रभाव को समेटते हुए उन्होंने देशभक्ति को भी नाटकों का विषय बनाया और नीलदेवी जैसे नाटक में स्त्री-स्वातंत्र्य की आवाज भी उठाई। उनकी 'प्रेमयोगिनी' नाटिका ने तो एक तरह से यथार्थवादी धारा को ही जन्म दिया। नाटिका अपूर्ण है, परन्तु वह अब भी एक अच्छा वस्तुवादी स्केच है। श्री जयशङ्कर प्रसाद ने भारतेन्दु को ही हिंदी साहित्य का पहला यथार्थवादी माना है। वे कहते हैं—"साहित्य के पुनरुद्धार-काल के श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य रसानुभूति का महत्त्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भावधारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों में 'चंद्रावली' में प्रेम-रहस्य की उज्ज्वल नीलमणि वाली रसपरंपरा स्पष्ट थी और साथ ही (सत्य हरिश्चंद्र) में प्राचीन फलयोग की आनंदमयी पूर्णता थी, किन्तु 'नीलदेवी' और 'भारतदुर्दशा' इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई। श्री हरिश्चंद्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेम-योगिनी' हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी की समझता हूँ। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो परंतु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय आरंभ हुआ था। वेदना और

यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परंपरा थी, उससे भिन्न सीधे-साधे मनुष्य के अभाव और उस की परिस्थिति का चित्रण भी हिंदी में उसी समय आरम्भ हुआ। 'राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाला सिद्धांत कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिंदी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।" (काव्य और कला, पृ० ८५)

परन्तु भारतेन्दु का क्रांतिकारी रूप उनके निबंधों और व्याख्यानों से प्रगट होता है। वहाँ साहित्य का आवरण उतर जाता है, वे कर्मठ समाज-सुधारक और युग-पुरुष के रूप में सामने आते हैं। "स्वर्ग में स्वामी दयानन्द और केशवचंद्र सेन" जैसे निबंध बंकिमचंद्र के "अंग्रेजस्तोत्र" की याद दिलाते हैं। कवि व्यंग के सहारे इतनी बड़ी बात कह जाता है कि हमें आश्चर्य होता है। बलिया में उन्होंने जो व्याख्यान दिया था, वह आज भी उसी तरह जवाहरलाल नेहरू के नाम से उद्धृत किया जा सकता है। अपनी भाषा, देशी संस्कृति, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार और विदेशी वस्तुओं का त्याग, ग्रामीण जनता के लिए साहित्य निर्माण—ये भारतेन्दु की नवीन चिंताएँ थीं। उस युग में जब मध्यवर्ग अंग्रेजी भाषा, अँग्रेजी साहित्य और खान-पान एवं लोक-व्यवहार में अंग्रेजी के अनुकरण की ओर इस तरह दौड़ रहा था जिस तरह दीपक पर पतंग, तो भारतेन्दु ने अपनी भाषा, अपने देश और अपनी संस्कृति की बात उठाई। उन्हें घेरकर एक

बहुत बड़ा सुधार-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उन्होंने किसी नए धर्म का प्रवर्तन भले ही नहीं किया हो, परंतु वे स्वामी दयानन्द की भाँति ही हिंदू धर्म की रूढ़िप्रियता के विरोधी रहे। उन्होंने केशवचन्द्र सेन और दयानन्द का थोड़ा विरोध जरूर किया, उन्हें अपनी लेखनी से झकझोरा भी, परंतु उनके विरुद्ध समर्थ होते हुए भी उन्होंने कोई अखाड़ा नहीं खड़ा किया। हिंदी-प्रदेश उन दिनों ईसाई रोमन कैथोलिक पादरियों के प्रचार-कार्य का केन्द्र बना हुआ था। काशी, मिर्जापुर, आगरा, सरधना ये इन केन्द्र थे। इस नई विदेशी धार्मिक शक्ति के विरुद्ध जनता और विचारकों में प्रतिक्रिया हुई। ब्रह्मसमाज ने ईसाईधर्म के उपासना के ढंग को ग्रहण कर लिया और उपनिषदों के आधार पर उसी तरह ब्रह्ममूलक निर्गुण धर्म का प्रचार किया जिस तरह मध्ययुग में निर्गुणी संतों (नामदेव और रामानन्द) ने किया था। आर्य-समाज ने भी देवतावाद और मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई और वेदों के कर्मकांड-प्रधान बुद्धिमूलक धर्म की ओर प्रवृत्त हुआ। साकार उपासकों को कौन सहारा देता! भारतेन्दु, श्रद्धाराम फुल्लौरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भक्तिवादी मूर्तिपूजक हिंदुओं का पक्ष ग्रहण किया और जहाँ उन्होंने ईसाइओं और नवीन निर्गुण मतों से युद्ध किया, वहाँ उन्होंने प्राचीन हिंदू धर्म की भी नई व्याख्या की और सुधारमूलक नव्य हिंदूमत Neo-Hinduism को जन्म दिया। बाहर और भीतर के प्रहारों को सहते हुए उन्होंने सामान्य हिंदू को नई जागरूक शक्ति दी। समाज में जहाँ-जहाँ दुर्बलता आ गई थी, वहाँ-वहाँ उन्होंने प्रतिकार के साधन बताये। उन्हीं के कर्मठ प्रयत्नों के फलस्वरूप जहाँ ईसाइयों का धर्म-परिवर्तन कुण्ठित हो गया, वहाँ आर्यसमाज धीरे-धीरे सामान्य हिंदूसमाज का सुधारक अंगमात्र रह गया। आर्यसमाज के सभी सुधार इन सुधारकों ने अपना लिये थे, फिर आर्यसमाज

का विरोध कहाँ ठहरता। आज हम इन सुधारकों के समय के इतने पास हैं कि हम इनकी महत्ता नहीं देखते, परंतु वल्लभ, रामानन्द और तुलसी ने जो काम मध्य युग में किया, जिस प्रकार हिंदू-भाव को बचाया, वही काम इन्होंने भी किया। इनमें से कोई इतने बड़े व्यक्तित्व को नहीं पहुँच सका जो तुलसी या रामानन्द को मिला, यह दूसरी बात है, परंतु इनका काम उतना ही महत्त्वपूर्ण अवश्य था।

केवल साहित्यिक के नाते ही भारतेंदु का बड़ा महत्त्व है। अपने इतिहास में पं० रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें युग की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति बतलाया है। अनेक क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा का योग मिला :

१—"भारतेंदु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया —उनके भाषासंस्कार का महत्त्व को सब लोगों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी गद्य के प्रवर्तक माने गये।" (पृ० ५३४)

२—"इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, शृंगार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच में कुछ शिक्षा-संबन्धिनी पुस्तकें अवश्य

निकल जाती थीं पर देशकाल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंगदेश में नये ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो गया था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिंदी-साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।" (पृ० ५३५)

२—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए-नए या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन-नवीन के इस संधि-काल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।" (पृ० ५५०) इस प्रकार हम देखते हैं क्या साहित्य, क्या धर्म, क्या राजनीति, क्या लोकहित, अपने युग के प्रवृत्ति-क्षेत्र में भारतेन्दु युगपुरुष

की भाँति अकेले खड़े हैं—उनके युग के सारे प्रतिभावान व्यक्ति उन्हीं को शक्ति का स्रोत मान रहे हैं।

भारतेन्दु-युग (१८५०-१६००) में साहित्य का निर्माण भारतेंदु और उनके इष्टमित्रों द्वारा ही विशेष रूप से हुआ। वह एक प्रकार का गोष्ठी-साहित्य था। प्रत्येक लेखक अपनी मण्डली के और लेखकों से प्रोत्साहन पाने की आशा रखता था, इसी इष्टमित्र-मंडली को सुनाने के लिए वह लिखता था। भारतेन्दु इस मंडली के केन्द्र थे। उन्हीं के घर लेखकों और कवियों की बैठकें जुड़तीं और वे मुक्तकंठ हो सबकी प्रशंसा करते। कोई नया कवित्त बनाकर ला रहा है, कोई नया छंद गढ़ रहा है, कोई किसी पत्र-सम्पादन के संबन्ध में कोई उलझन सुलझा रहा है, कोई किसी प्राचीन संस्कृत ग्रंथ पर टीका-टिप्पणी कर रहा है। मण्डली में जो नया सदस्य आता, उससे सारे सदस्यों का परिचय हो जाता और जब वह काशी से बाहर चला जाता तो नियमित रूप से पत्रों के द्वारा उसका संपर्क बना रहता। जान पड़ता था, उस युग के सब लेखक एक ही कुटुम्ब के व्यक्ति थे, न स्पर्द्धा न राग-द्वेष। भारतेन्दु धनी थे, सहृदय थे, काव्य-प्रेमी थे, उन्हें सबने सहज ही बड़ा मान लिया था। परंतु वे सब के साथ चलकर अपने बड़प्पन को हलका कर देते थे। इन लेखकों की एक अच्छी-खासी मंडली बन गई थी। इनमें प्रमुख थे पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट। इन सभी लेखकों का दृष्टिकोण विकसित था। वे अपने अपने क्षेत्र में क्रांतिकारी थे। जो चपलता, स्वच्छंदता, उमङ्ग और जिंदादिली भारतेन्दु-मण्डली के लेखकों में पाई जाती है, वह हिंदी के किसी युग के लेखकों में दुर्लभ है। जीवन ही जैसे एक बड़ी चुहल हो। प्रतापनारायण मिश्र-जैसे लोग अब कहाँ जिन्होंने भीतर तिल-तिल घुलकर बाहर हँस-हँस कर, हँसा-हँसा

कर जीवन ही काट दिया ! वह सजीवता, वह जिंदादिली, वह हास्य, वह विनोद जो 'ब्राह्मण' के पृष्ठों में छिपा पड़ा है हिंदी की चिराह्लादिनी निधि है। 'सबके बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का धार्मिक सम्बन्ध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा-पूरा बना था। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़ने वाले त्योहार उनके मन में उमङ्ग उठाते थे, परंपरा से चले आते हुए आमोद-प्रमोद के मेले उनमें कौतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हें दिखाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के संधिस्थल पर खड़े होकर वे दोनों की जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का परिवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु। (इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ ५३८-५३६)। देश के कोने-कोने में हिंदी के हित का ध्यान होने लगा; जहाँ भी, जो भी देशहित की बात सोचता, भारतेन्दु से सलाह लेता और उनको साहित्यिक प्रवृत्तियों और उनकी मंडली के लेखकों को अपना आदर्श बनाता। धर्म-चर्चा, शास्त्रीय विवेचना और सम्वाद-पत्रों की राजनीति-चर्चा ने हिंदी भाषा को नया व्यवहारोपयोगी रूप दिया और हिंदी-साहित्य को शुद्ध साहित्य की उपयोगिता-हीन मोरपंखी सज्जा से बाहर निकाल कर प्रतिदिन की समस्याओं के स्वास्थ्यप्रद वातावरण में खड़ा किया। साहित्य जीवन की अनेक अभिव्यक्तियों में से केवल एक अभिव्यक्ति है यह हिंदी में पहली बार भारतेन्दु-युग में ही समझा गया। इसी युग में हम एक नई कर्तव्य सभ्यता के

संपर्क में आये और उसके सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रभावित हुए। धर्मक्षेत्र का स्थान कर्मक्षेत्र ने ले लिया और धर्म के साहित्य के स्थान पर कर्म का साहित्य बनना आरम्भ हुआ। अब तक साहित्य ऊर्ध्वमूल था, परलोक में उसकी जड़ें थीं, अब उसने पहली बार पृथ्वी को पकड़ा और उसके भीतर से रस लेकर लोकजीवन पुष्ट करना चाहा।

भारतेंदु के साथ हिंदी-कविता के विषयों और उनके प्रकाशन की शैली में क्रांति हो गई। प्राचीन हिंदी-कविता के विषय धर्म और शृङ्गार थे, नवीन हिंदी-काव्य में धर्म को गौण स्थान मिला। प्रचीन कवि रसभाव-पुष्टि को ध्यान में रखते थे। देश की नवीन परिस्थितियों ने स्वतंत्रता की भावना, देशप्रेम और समाज-सुधार की भावना को जन्म दिया। कविता के लिए नए विषय मिले उसका रूप नया हो गया।

भारतेंदु के समय से वर्तमान हिंदी-काव्य की जो धारा बही है उसमें प्राचीन काव्यधारा की कई प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हैं—वैष्णव (रामकृष्ण भक्ति) भक्ति, निर्गुण (संत) भावना, रीति शृङ्गार भाव। परन्तु साथ ही जिन नई प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है, उन्होंने इन भावनाओं को शिथिल कर रखा है। इनमें सबसे प्रधान राष्ट्रीय देशप्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावना है। राष्ट्रीय वीरों का गुणगान, राष्ट्रपतन के लिए दुःख-प्रकाश, समाज की अवनति के लिए शोक और क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिंदू-हितैषियता (जातीयता) ये भारतेन्दु काल के काव्य के प्रमुख विषय हैं। भारतेन्दु कहते हैं—

> कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्टर
> चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर।
> कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये कितै गिर
> कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर

कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो धूरहि धूर दिखात जग
जागो अब तो खल-बल-दलन, रक्षहु अपनो आर्यमग

यहाँ कवि यदि अवनति के गर्त से उभारने के लिए भगवान से प्रार्थना करता है, तो पंडित प्रतापनारायण मिश्र स्त्रियों की प्रगति का प्रश्न उठाते हैं। वे कहते हैं—

स्त्रीगण को शिक्षा देवें कर पतिव्रता यश लेवैं
झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिटि जाय
बालविवाह की रीति मिटाओ रहे लाली मुँह छाय
विधवा विलपैं नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय गोहार नहीं

यह समय भारतवर्ष के लिए अत्यन्त संकट का समय था। देश ने हथियार डाल दिये थे। एक नई संस्कृति और सभ्यता से उसका संघर्ष चल रहा था। देश में अंग्रेजी-शिक्षा प्राप्त एक जन-समुदाय धीरे-धीरे खड़ा हो गया था। भारतीय धर्म-कर्म और संस्कृति-सभ्यता की बात को भूल कर यह नया शिक्षित वर्ग 'साहब' बनने चला था। ऐसे समय में भारतीयता के लुप्त हो जाने का डर था। हमारे कवियों ने जहाँ समाज को उदार बनने के लिए ललकारा—

पित पति सुत करतल कमल लालित ललना लोग
पढ़ैं गुनै सीखैं सुनैं नासैं सब जग सोग
वीर प्रसविनी बुध-बधू होय दीनता खोय
नारी नर अरधंग की साँचहि स्वामिनि होय
(भारतेन्दु)

वहाँ हिंदुओं की मानसिक दासता के लिए क्षोभ भी प्रकट किया—
अँगरेजी हम पढ़ी तउ अँगरेज न बनिहैं
पहिरि कोट पतलून बुरुट के गर्व न सनिहैं

भारत ही में जन्म लियो भारत ही रहिहैं
भारत ही के धर्म-कर्म पर निष्ठा गहिहैं
(अंबिकादत्त व्यास)

सबै विदेसी वस्तु नर गति रति रीति लखात
भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात
हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात
भारतीय सब वस्तु ही सों ये हाय घिनात
(प्रेमघन)

यद्यपि कवि अँग्रेजी शासन को अच्छा समझते थे परन्तु उन्होंने अपने समय की राजनीतिक जागृति को भी पहचाना और ब्रिटिश शासन की बड़ाई करते हुए भी दयनीय दशा के करुण चित्र रखे—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन बिदेश चलि जात इहै अति ख्वारी
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी
दिन दिन दूने दुःख ईस देत हा हा री
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई
(भारतेन्दु)

कांग्रेस की स्थापना (१८८५) हो जाने से देश में आशा का संचार हुआ और कवियों ने नवजागरण का शंखनाद किया—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का
समझ अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक जब उसने ताका
उन्नत पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई
खग बन्देमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई
उठो आर्यसन्तान, सँभल मिलि न बिलम्ब लगाओ
(प्रेमघन)

बालमुकुन्द गुप्त ने देशवासियों को प्रतिज्ञा के लिए बुलाया—

आओ एक प्रतिज्ञा करें
एक साथ सब जीवें मरें
अपना बोया आपहि खायें
अपना कपड़ा आप बनायें
माल विदेशी दूर भगावें
अपना चरखा आप चलावें

भारतेन्दु के बाद कोई एक प्रधान शक्ति गद्य-क्षेत्र में नहीं रही। यह अवश्य था कि उनकी शैली का अनुकरण अनेक लेखकों ने किया और सफलता से किया, परन्तु कुछ नेतृत्व होने और कुछ नवीन विकसित दृष्टिकोणों के कारण भारतेन्दु-युग के लेखकों में वैयक्तिकता की मात्रा बहुत अधिक रही। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि साहित्य-क्षेत्र में अनेक शैलियों का जन्म हुआ परन्तु एक हानि यह हुई कि एक व्यापक शैली कुछ दिनों के लिए नष्ट हो गई। इस समय की शैली की एकरूपता का कारण 'पत्रों' का विकास भी था। अधिकांश साहित्यसेवी अपना एक पत्र क्षेत्र में लाये। जो नहीं लाये, वे भी पत्रों में लिखने लगे। इससे साहित्यिक विद्वेष और खंडन-मंडन को स्थान मिला। एक तरह से हिंदी के विकास के लिए यह आवश्यक था। १९वीं शताब्दी के अंत तक पत्र-पत्रिकाओं का यह अनिश्चित क्रम जारी रहा। साहित्य में नेतृत्व करनेवाला कोई न था।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध 'भारतेन्दुयुग' है। इस अर्द्ध-शताब्दी के समय का प्रतिनिधित्व भारतेन्दु ही करते हैं और उनकी मृत्यु (१८८५ ई०) के बाद भी शेष पंद्रह वर्ष साहित्य और युग-चिंता पर उनकी छाप बनी रहती है। कम-से-कम जहाँ तक हिंदी-साहित्य का संबंध है, वहाँ तक तो इस बात में कोई संदेह ही नहीं है। राजनीति और समाज-सुधार के क्षेत्र में भी कांग्रेस

के जन्म से पहले भारतेन्दु की अपेक्षा प्रगतिशील कोई भी नहीं मिलेगा। राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे, बदरुद्दीन तैयबजी, फीरोजशाह मीरवानजी मेहता, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, दिनशाह ईदुलजी वाचा, झवेरीलाल उमाशङ्कर याज्ञिक, रहीमतुल्ला मुहम्मद सयानी, नारायण गणेश चन्दावरकर और बालगंगाधर तिलक बम्बई क्षेत्र के कृती पुरुष थे। डब्ल्यू० सी० बोनर्जी, मनमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाल-मोहन घोष, आनन्दमोहन घोष, और कालिचरण बनर्जी बंगाल में राष्ट्रीयता के उन्नायक बन रहे थे। मद्रास में सुब्रायनिया ऐयर, आनन्द चार्लू, सलीम रामस्वामी मुदालियर और श्री विजय-राघवाचार्य और संयुक्तप्रांत में पं० मदनमोहन मालवीय राष्ट्रीय भावना को बल दे रहे थे। बंगाल, मद्रास और बम्बई में जन-जीवन की नींव डाल दी गई थी। दादाभाई नौरोजी उस युग की राष्ट्रीय चेतना के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि थे और रानाडे, फीरोजशाह मेहता, तैयबजी, बोनर्जी, घोष और रमेशचंद्र दत्त उन्हीं की ओर देखते थे। हिन्दी-प्रदेश में राजनीतिक चेतना इतनी अधिक विकसित नहीं हुई थी परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हिंदी-प्रदेश राजभक्त हो रहा था। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की रच-नाओं से यह स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी प्रदेश भी उतना ही प्रगतिशील था जितने अन्य प्रदेश। परन्तु हिन्दी प्रदेश की अधिक शक्ति धर्म और समाज के सुधार आन्दोलनों में लगी हुई थी। हिन्दी-प्रदेश हिन्दू-राष्ट्र का हृदय है, हिन्दू हृदय और मस्तिष्क इसी प्रदेश से आदेश पाता रहा है। नये ईसाई धर्मवाद और नई यूरोपियन संस्कृति का प्रवेश पहले सीमांत के प्रदेशों में हुआ। वहाँ इनका विरोध नहीं हुआ। सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी में वे हृदय के स्रोत सूख गए थे जो पंद्रहवीं और सोलहवीं

शताब्दियों में अनेक धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों के रूप में फूट पड़े थे। परन्तु नई सभ्यता और संस्कृति को सतर्कता की दृष्टि से देखनेवाले लोगों की कमी नहीं थी। उन्होंने नेतृत्व ग्रहण किया और नवीन और प्राचीन के बीच में एक मध्यमार्ग निकाला। अपनी संस्कृति की मूल विशेषताओं की रक्षा करते हुए इन लोगों ने नई सभ्यता, नई संस्कृति, नए धर्म की अनेक बातें अपना लीं। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू सभ्यता और संस्कृति को एक संक्रातिकाल में डूब जाने से बचा लिया। धर्म और समाज के आन्दोलनों ने ही परवर्ती युग में राजनीतिक चेतना का उग्र रूप धारण कर लिया। भारतेन्दु इन्हीं कर्मी, देशी संस्कृति के प्रेमी और सतर्क महापुरुषों में से थे। राजनीति के चलते-फिरते इतिहासों में उनका नाम भले ही न आता हो, इसमें संदेह नहीं कि हिंदी प्रदेश के लिए उन्होंने उतना ही महत्त्वपूर्ण काम किया जितना राममोहन राय ने बंगाल के लिए। साहित्य उनके लिए एक नया अस्त्र था, परन्तु उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में इस अस्त्र को खूब चलाया, और नई विचारधारा को जन्म दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के दर्जन भर भारतीय महान लेखकों में वे ऊँचा स्थान प्राप्त करेंगे, यह तो मानी हुई बात है, परन्तु आधुनिक भारत की विचारधारा के इतिहास में भी उनका स्थान सुरक्षित रहेगा।

परिशिष्ट

१—कविता

भारत-वीरत्व

(सं० १६३५)

अहो आज का सुनि परत भारत भूमि मँझार
चहुँ ओर तें घोर धुनि कहा होत बहु बार ॥१॥
बृटिश सुशासित भूमि मैं रन-रस उमगे गात
सबै कहत जय आज क्यों यह नहिं जान्यो जात ॥२॥

गाना

जितन हेतु अफगान चढ़त भारत महरानी
सुनहु न गगनहिं भेदि होत जै जै धुनि-बानी ॥३॥
जै जै जै विजयिनी जयति भारत सुख-दानी
जै राजा गन-मुकुटमनी धन-बल-गुन खानी ॥४॥
सोई बृटिश अधीश चढ़त अफगान-जुद्ध-हित
देखहु उमड्यौ सैन-समुद उमड्यौ सब जित तित ॥५॥

पूर्ण कोरस

अरे ताल दै लै बढ़ाओ बढ़ाओ
सबै धाइ कै राग मारू सुगाओ ॥६॥

आरंभ

कहाँ सबै राजा कुँअर और अमीर नवाब
कहौ आज मिलि सैन में हाजिर होहु सिताब ॥७॥

धाओ धाओ वेग सब पकरि पकरि तरवार
लरन हेत निज सत्रु सों चलहु सिंध के पार ॥८॥
चढ़ि तुरंग नव चलहु सब निज पति पाछे लागि
"उडुपति सङ्ग उडुगन सरिस नृप सुख सोभा पागि" ॥९॥
याद करहु निज वीरता सुमिरहु कुल-मरजाद
रन-कंकन कर बाँधि कै लरहु सुभट रन-स्वाद ॥१०॥
बज्यो बृटिश डंका अबै गहगह गरजि निसान
कंपे थर थर भूमि गिरि नदी नगर असमान ॥११॥

शाखा

राज-सिंह छूटे सबै करि निज देश उजार
लरन हेत अफगान सों धाए बाँधि कतार ॥१२॥

पूर्ण कोरस

सुन्दर सेना सिविर सजायो
　　मनहु वीर रस सदन सुहायो
छुटत तोप चहुँ दिसि अति जंगी
　　रूप धरे मनु अनल फिरंगी ॥१३॥
हा हा कोई ऐसो हती ना दिखावै
　　अबै भूमि के जो कलंकै मिटावै
चलै संग मैं जुद्ध को स्वाद चाखै
　　अबै देस की लाज को जाइ राखै ॥१४॥
कहाँ हाय ते वीर भारी नसाए
　　किती दर्प तें हाय मेरे बिलाए
रहे वीर जे सूरता पूर भारे
　　भए हाय तेई अबै क्रूर कारे ॥१५॥
तब इन ही की जगत बड़ाई
　　रही सबै जग कीरति छाई

तिन ही अब ऐसो कोउ नाहीं
लरै छिनहुँ जो सङ्कत माहीं ॥१६॥
प्रगट भीरता देहि दिखाई
रून महँ काबुल लेइ छुड़ाई
रूस-हृदय - पत्री पर बरबस
लिखै लोह लेखनि भारत-जस ॥१७॥

आरम्भ

परिकर कटि कसि उठौ धनुष पै धरि सर साधौ
केसरिया बाना सजि कर रन-कंकन बाँधौ ॥१८॥
जासु राज सुख बस्यौ सदा भारत भय त्यागी
जासु बुद्धि नित प्रजा-पुंज-रंजन महँ पागी ॥१९॥
जो न प्रजा-तिय दिसि सपनेहूँ चित्त चलावैं
जो न प्रजा के धर्महि हठ करि कबहुँ नसावैं ॥२०॥
बाँधि सेतु जिन सुरत किए दुस्तर नद नारे
रची सड़क बेधड़क पथिक हित सुख बिस्तारे ॥२१॥
ग्राम ग्राम प्रति प्रबल पाहरू दिए बिठाई
जिनके भय सों चोर वृन्द सब रहे दुराई ॥२२॥
नृप-कुल दत्तक-प्रथा कृपा करि निज थिर राखी
भूमि कोष को लोभ तज्यौ जिन जग करि साखी ॥२३॥
करि वारड्-कानून अनेकन कुलहि बचायो
विद्या-दान महान नगर प्रति नगर चलायो ॥२४॥
सबही विधि हित कियो विविध विधि नीति सिखाई
अभय बाँह की छाँह सबहि सुख दियो मोआई ॥२५॥
जिनके राज अनेक भाँति सुख किये सदाहीं
समर भूमि तिनसों छिपनो कछु उत्तम नाहीं ॥२६॥
जिन जवनन तुम धरम नारि धन तीनहुँ लीनो
तिनहूँ के हित आरजगन निज अङ्ग तजि दीनो ॥२७॥

मानसिंह बंगाल लरे परतापसिंह संग
रामसिंह आसाम विजय किए जिय उछाह रंग ॥२८॥
छत्रसाल हाड़ा जूझ्यौ दारा हितकारी
नृप भगवान सुदास करी सैना रखवारी ॥२९॥
तो इनके हित क्यौं न उठहिं सब वीर बहादुर
पकरि पकरि तलवार लरहिं बनि युद्ध चक्रधुर ॥३०॥

शाखा

सुनत उठे सब बीरवर कर महँ धारि कृपान
सजि सजि सहित उमंग किय पेशावरहि पयान ॥३१॥
चली सैन भूपाल की बेगम-प्रेषित धाइ
अलवर सौं बहु ऊँट चढ़ि चले वीर चित चाइ ॥३२॥
सैन सस्त्र धन कोष सब अर्पन कियो निजाम
दियो बहावल पूर-पति सैन-सहित निज धाम ॥३३॥
बीस सहस्र सिपाह दिय जम्बूपति मह चाह
सैन सहित रन-हित चढ़्यौ आपुहि नाभा नाह ॥३४॥
मण्डी जींद सुकेत पटिआला चम्बाधीस
टोंक सेन्धिया बहुरि करपूरथला-अवनीस ॥३५॥
जोधपुराधिप अनुज पुनि टोंक चचा सह साज
नाहन मालर-कोटला फरिदकोट के राज ॥३६॥
साजि साजि निज सैन सब जियमैं भरे उछाह
उठि कै रन-हित चलत भे भारत के नर-नाह ॥३७॥
'डिसलायल' हिंदुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग
दृग भर निरखहिं आज ते राजभक्ति-संजोग ॥३८॥
निरभय पग आगेहिं परत मुख तैं भाखत मार
चले वीर सब लरन हित पच्छिम दिसि इक बार ॥३९॥

पूर्ण कोरस

छुटी तोप फहरी धुजा गरजे गहकि निसान
भुन-मण्डल खल भल भयो भारत सैन पयान ॥४०॥

प्रात-समीरन

(सं० १९३१)

मन्द मन्द आवै देखो प्रात समीरन
करत सुगन्ध चारो ओर विकीरन
गात सिहरात तन लगत सीतल
रैन निद्रालस जन-सुखद चंचल
नेत्र सीस सीरे होत सुख पावै गात
आवत सुगन्ध लिए पवन प्रभात
वियोगिनी-बिदारन मन्द मन्द गौन
बन-गुहा वास करै सिंह प्रात-पौन
नाचत आवत पात पात हिहिनात
तुरग चलत चाल पवन प्रभात
आवै गुञ्जरत रस फूलन को लेत
प्रात को पवन भौंर सोभा अति देत
सौरभ सुमंद धारा ऊँचो किए मस्त
गज सो आवत चल्यौ गयन प्रसस्त
फुलावत हिय-कंज जीवन सुखद
सज्जन सो प्रात पौन सोहै बिना मद
दिसा प्राची लाल करै कुमुदी लजाय
होरी को खिलार सो पवन सुख पाय
भौंर शिष्य मन्त्र पढ़ैं धर्म्म-कर्म्म-बन्त
प्रात को समीर आवै साधु को महन्त

सौरभ को दान देत मुदित करत
दाता बन्यो प्रात-पौन देखो री चलत
पातन कँपावै लेत पराग खिराज
आवत गुमान भर्यो समीरन-राज
गावैं भौंर गूँजि पात खरक मृदङ्ग
गुनी को अखारो लिए प्रात-पौन सङ्ग
काम में चैतन्य करै देत है जगाय
मित्त उपदेस बन्यो भोर पौन आय
पराग को भौंर दिए पच्छी बोल बाज
ब्याहन आवत प्रात-पौन चल्यौ आज
आप देत थपकी गुलाब चुटकार
बालक खिलावै देखो प्रात की बयार
जगावत जीव जग करत चैतन्य
प्रान-तत्त्व सम प्रात आवै धन्य-धन्य
गुटकत पच्छी धुनि उड़े सुख होत
प्रात पौन आवै बन्यो सुन्दर कपोत
नव-मुकुलित पद्म पराग के बोझ
भार वाही पौन चलि सकत न सोझ
छुअत सीतल सबै होत गात आत
स्नेही के परस सम पवन प्रभात
लिए जात्री फूल-गन्ध चलै तेज आप
रेल रेल आवै लखि रेल प्रात वाय
विविध उपमा धुनि सौरभ को भौन
उड़त अकास कवि-मन किधौं पौन
अंग सिहरात छूए उड़त अंचल
कामिनी को पति प्रात पवन चंचल
प्रात समीरन सोभा कही नहिं जाय

जगत उद्योगी करैं आलस नसाय
जागे नारी-नर लगे निज निज काम
पंछी चहु चहु बोलैं ललित ललाम
कोई भजें राम राम कोई गङ्गा न्हाय
कोई सजि वस्त्र अंग काज हेत जाय
चटकें गुलाब फूल कमल खिलत
कोऊ मुख बन्द करें परन हिलत
गावत-प्रभाती बाजे मन्द मन्द ढोल
कहूँ करैं द्विजगन जय जय बोल
बजै शहनाई कहूँ दूर सों सुनाय
भैरवी की तान लेत चित्त को चुराय
जङ्गली कपोत कहूँ काग करैं शोर
चुहू चुहू चिरैयन कीनो अति सोर
बोलैं तमचोर कहूँ ऊँचो करि माथ
अल्ला अकबर करैं साथ साथ
बुझी लालटेन लिए झुकि रहे माथ
पहरू लटकि रहे लम्बो किए हाथ
स्वान सोये जहाँ तहां छिपि रहे चोर
गऊ पास बच्छन अहीर देत छोर
दही फल फूल लिए ऊँचे बोलैं बोल
आवत ग्रामीन-जन चले टोल टोल
सड़क सफाई होत करि छिड़काव
बग्गी बैठि हवा खाने आवैं उमराव
काज व्यग्र लोग धाए कम्पन हिलाय
कसे कटि चुस्त बेन पगड़ी सजाय
सोई वृत्ति जागी सब नरन के चित्त
बुरी-भली सबै करैं सीख.जौन नित्त

चले मनसूबा लोक थोकन के जौन
मार-पीट दान-धर्म्म काम-काज मौन
ब्यास बैठे घाट घाट खोलि कै पुरान
ब्रह्मानन पुकारै लगे हाय हाय दान
अरुन किरिन छाई दिसा भई लाल
घाट नीर चमकन लागे तौन काल
दीप-जोति उडुगन सह मन्द मन्द
मिलत चकई चका करत अनन्द
प्रलय पीछे सृष्टि सम जगत लखाय
मानो मोह बीत्यौ भयो ज्ञानोदय आय
प्रात-पौन लागें जाग्यौ कवि 'हरीचंद'
ताकी स्तुति करि कहौ यह बंग छंद

होली

भारत में मची है होरी।

इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी
अपनी-अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुँ ओरी
दुन्द सखि बहुत बढ़ो री।
धूर उड़त सोइ अबिर उड़ावत सब को नयन भरो री
दीन दसा अँसुअन पिचकारिन सब खिलार भिंजयो री
भींजि रहे भूमि लटोरी।
भइ पतझार तत्व कहुँ नाहीं सोई वसन्त प्रगटो री
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै सोइ फूली सरसों री
सिसिर को अन्त भयो री।
बौराने सब लोग न सूझत आम सोई बौर्यौ री
कुहू कहत कोकिल ताही तें महा अँधार छयो री
रूप नहिं काहू लख्यो री।

हार्‌यो भाग अभाग जीत लखि विजय निसान हयो री
तब स्वाधीनपनो धन-बुधि-बल फगुआ माहिं लयो री
शेष कछु रहि न गयो री।
नारी बकरा कुमार आधो सिच्छित सबहिं भयो री
उत्तर काहू न दयो री।
उठो उठो भैया क्यौं हारौ अपुन रूप सुमिरो री
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करो री
दीनता दूर धरो री।
कहाँ गये छत्री किन उनके पुरुषारथहिं हरो री
चूड़ी पहिरि स्वाँग बनि आए धिक धिक सबन कह्यो री
भेस यह क्यों पकरो री।
धिक यह मात-पिता जिन तुम सों कायर पुत्र जन्यो री
धिक वह घरी जनम भयो जामें यह कलंक प्रगटो री
जनमतहि क्यों न मरो री।
खान-पियन अरु लिखन-पढ़न सों काम न कछू चलो री
आलस छोड़ि एकमत ह्वै कै साँची बुद्धि करो री
समय नहिं नेकु बचो री।
उठो उठो सब कमरन बाँधौ शस्त्रन सान धरो री
विजय-निसान बजाइ बावरे आगेइ पाँव धरो री
छबीलिन रँगन रँगो री।
आलस मैं कछु काम न चलिहै सब कछु तो बिनसो री
छिन गयो धन-बल राज-पाट सब कोरो नाम बचो री
तऊ नहिं सुरत करो री।
कोकिल एहि विधि बहुबकि हार्‌यौ काहू माहिं सुनो री
मेटी सकल कुमेटी थोथी पोथी पढ़त परो री
काज नहिं तनक सरो री।

चालिस दिन इमि खेलत बीते खेल नहिं निपटो री
भयो पंक अति रँग को तापै गज को जूथ फँसो री
न कोउ विधि निकसि सको री।

खेलत खेलत पूनम आई भारी खेल मचो री
चलत कुमकुमा रँग पिचकारी अरु गुलाल की भोरी
बजत डफ राग जमो री।

होरी सब ठाँवन लै राखी पूजत लै लै रोरी
घर के काठ डारि सब दीने गावत गीत न गोरी
झूमका झूमि रहो री।

तेज बुद्धि-बल धन अरु साहस उधम सूरपनो री
होरी में सब स्वाहा कीनो पूजन होत भलो री
करत फेरी तब कोरी।

फेर धुरहरी भई दूसरे दिन जब अगिन बुझो री
सब कछु जारि गयो होरी में तब धूरहि धूर बचो री
नाम जम घंट परो री।

फूँक्यो सब कछु भारत ने कछु हाथ न हाथ रहो री
तब रोअन मिस चैती गाई भल भई यह होरी
भलो तेहवार भयो री ॥४७॥

२—निबंध

कंकर-स्तोत्र

कंकर देव को प्रणाम है। देव नहीं महादेव क्योंकि काशी के कंकर शिवशंकर समान हैं। हे कंकर समूह! आजकल आप नई सड़क से दुर्गा जी तक बराबर छाए हो इससे काशीखण्ड "तिले" "तिले" सच हो गया। अतएव तुम्हें प्रणाम है। हे

लीलाकारिन्! आप केशी शकट वृषभ खरादि के नाशक हो इससे मानो पूर्व्वार्द्ध की कथा है। अतएव व्यासों की जीविका हो।

आप सिर-समूह-मज्जन हो क्योंकि कीचड़ में लोग आप पर मुंह के बल गिरते हैं।

आप पिष्ट पशु की व्यवस्था हो क्योंकि लोग आपकी कढ़ी बनाकर आपको चूसते हैं।

आप पृथ्वी के अन्तर गर्भ से उत्पन्न हो। संसार के गृह निर्माणमात्र के कारणभूत हो। जलकर भी सफेद होते हो दुष्टों के तिलक हो। ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे आप नमस्कारणीय हो।

हे प्रबल वेग अवरोधक! गरुड़ की गति भी आप रोक सकते हो और को कौन कहै इससे आपको प्रणाम है।

हे सुन्दरी सिंगार! आप बड़ी के बड़े हो क्योंकि चूना पान की लाली का कारण है और पान रमणीगण के मुख शोभा का हेतु है इससे आपको प्रणाम है।

हे चुंगीनन्दन! ऐन सावन में आपको हरियाली सूझी है क्योंकि दुर्गा जी पर इसी महीने में भीड़ विशेष होती है तो हे हठमूर्ते! तुमको दण्डवत है।

हे प्रबुद्ध! आप शुद्ध हिन्दू हो क्योंकि शरह विरुद्ध हो आब आया और आप न बर्खास्त हुए इससे आपको सलाम है।

हे स्वेच्छाचारिन्! इधर-उधर जहाँ आपने चाहा अपने को फैलाया है। कहीं पटरी के पास पड़े हो कहीं बीच में अड़े हो अतएव हे ज्योतिवारि आपको नमस्कार है।

हे शस्त्र समष्टि! आप गोली गोला के चचा, छर्रों के परदादा, तीर के फल, तलवार की धार और गदा के गोला हो। इससे आपको प्रणाम है।

आहा! जब पानी बरसता है तब सड़क रूपी नदी में आप द्वीप से दर्शन देते हो इससे आपके नमस्कार में सब भूमि को नमस्कार हो जाता है।

आप अनेकों के बृद्धतर प्रपितामह हो क्योंकि ब्रह्मा का नाम पितामह है उनका पिता पंकज है उसका पिता पंक है और आप उसके जनक हो इससे आप पूजनीयों में एल० एल० डी० हो।

हे जोगा जिवलाल रामलालादि मिस्त्रीसमूह जीविकादायक! आप कामिनी-भक्षक धुरी-विनाशक वारनिश चूर्णक हो। केवल गाड़ी ही नहीं घोड़े की नाल सुमबैल के खुर और कंटक चूर्ण को भी आप चूर्ण करने वाले हो इससे आपको नमस्कार है।

आपमें सब जातियों और आश्रमों का निवास है। आप वाणप्रस्थ हो क्योंकि जंगलों में लुड़कते हो। ब्रह्मचारी हो क्योंकि वटु हो। गृहस्थ हो चूनारूप से संयासी हो क्योंकि घुट्टमघुट्ट हो। ब्राह्मण हो क्योंकि प्रथम वर्ण होकर भी गली गली मारे मारे फिरते हो। क्षत्री हो क्योंकि खत्रियों की एक जाति हो। वैश्य हो क्योंकि काँट बाँट दोनों तुममें है। शूद्र हो क्योंकि चरणसेवा करते हो। कायस्थ हो क्योंकि एक तो ककार का मेल दूसरे कचहरी पथावरोधक तीसरे चित्रमल हम आपको सिद्ध कर चुके हैं। इससे हे सर्ववर्ण स्वरूप तुमको नमस्कार है।

आप ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, अग्नि, जय, काल, दक्ष और वायु के कर्त्ता हो, मन्मथ की ध्वजा हो, राजा पद्मदायक हो, तन मन धन के कारण हो, प्रकाश के मूल शब्द की जड़ और जल के जनक हो वरंच भोजन के भी स्वादु कारण हो, क्योंकि आदि व्यंजन के भी बाबाजान हो इसीसे हे कंकड़ तुमको प्रणाम है।

आप अँगरेजी राज्य में श्रीमती महारानी विक्टोरिया और पार्लमेन्ट महासभा के आहत, प्रबल प्रताप श्रीयुत गवर्नर जनरल

और लेफ्टेन्ट गवर्नर के वर्तमान होते, साहिब कमिश्नर, साहिब मैजिस्ट्रेट, साहिब सुपरइन्टेन्डेन्ट के इसी नगर में रहते और साढ़े तीन तीन हाथ के पुलिस इन्सपेक्टरों और कांस्टिबलों के जीते भी गणेश चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पाँव पड़कर रुधिर धारा से नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देते हो अतएव हे अँगरेजी राज्य में नवाबी संस्थापक! तुमको नमस्कार है।

यह लम्बा चौड़ा स्तोत्र पढ़कर हम विनती करते हैं कि अब आप सड़ेसिकन्दरी बाना छोड़ो या हटो या पिटो।

३—कथा

एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आँख लग गयी। सोते में सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीं इस संसार में नाम स्थिर रहने को कोई युक्ति निकल आवे तो अच्छा है, क्योंकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण भर का भरोसा नहीं। ऐसा कहा भी है—

स्वाँस स्वाँस पर हरि भजो वृथा स्वाँस मति खोय
न जाने या स्वाँस को आवन होय न होय

देखो समय सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। कालवश शशि सूर्य भी नष्ट हो जायेंगे। आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवेंगे। केवल कीर्त्ति-कमल संसार सरवर में रहो वा न रहो, और सब तो एक दिन तप्त तवे की बूँद हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच समझ प्रथम यह विचार किया कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ, परन्तु

थोड़ी ही देर में समझ आ गया कि इन दिनों की सभ्यता के अनुसार इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं, और यह तो मुझे भली-भाँति मालूम है कि यही अँग्रेजी शिक्षा रही तो मन्दिर की ओर मुख फेर कर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। फिर पड़े-पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बड़े काँटे निकले। क्योंकि बनाने की देर न होगी कि क्रीट 'क्रटिक' काटकर आधी से अधिक निगल जायँगे। यश के स्थान शुद्ध अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे-फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाड़िली नींद को दो रात पड़ोसियों के घर भेज, आँख बन्द कर, शम्भु की-सी समाधि लगा गया, यहाँ तक कि इकसठ वा इक्कावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गये। अंत को एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ में पड़ गयी। स्वप्न ही में प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का विचार दृढ़ किया। परन्तु जब थैली में हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकलीं। आप जानते हैं इतने में मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था। निदान अपने इष्ट-मित्रों की भी सहायता लेनी पड़ी। ईश्वर को कोटि धन्यवाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटों के ठौर मुहर चिनवा लेते तब भी तो दस पाँच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते-होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमें जितना समस्त व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु इतना अपने मुन्शी से मैंने सुना था कि एक का अंक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी में पड़े थे। बनने को तो एक क्षण में सब बन गया था, परन्तु उसके काम जोड़ने में पूरे पैंतीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई, उसी दिन हमने हिमालय की कन्दराओं में से खोज-खोजकर अनेक उद्दण्ड पंडित बुलवाये, जिनकी संख्या पौन दश-

मलव से अधिक नहीं है। इस पाठशाला में अगणित अध्यापक नियत किये गये, परन्तु मुख्य केवल ये हैं--पण्डित मुग्धमणि शास्त्री तर्कवाचस्पति, प्रथम अध्यापक। पाखंडप्रिय धर्माधिकारी, अध्यापक धर्मशास्त्र। प्राणान्तकप्रसाद वैद्यराज, अध्यापक वैद्यक शास्त्र। लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण, अध्यापक ज्योतिष-शास्त्र। शीलदावानल नीतिदर्पण, अध्यापक नीतिशास्त्र और आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पंडितों के आ जाने पर अर्धरात्रि गये पाठशाला खोलने बैठे। उस समय सब इष्ट-मित्रों के सम्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया। जो संसार को बनाकर क्षण भर में नष्ट कर देता है, और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिंदा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है। हम कोटि धन्यवादपूर्वक आज इस सभा के सम्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशंसा करते हैं जिसके प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पड़ी। उस ईश्वर को ही अंगीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे, नहीं तो जब द्रव्य की खोज में समुद्र में डूबते-डूबते थे तब कौन जानता था कि हमारी कपोल-कल्पना सत्य हो जायगी। परन्तु ईश्वर की अनुग्रह से हमारे सब संकट दूर हुए और अन्त समय हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्ट-मित्रों की सहायता को कभी न भूलेंगे कि जिनकी कृपा से इतना द्रव्य हाथ आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया, और हम पाँच पीढ़ी तक हमारी संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। हे सज्जनो, यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन, मन से आप इस धर्मकार्य में प्रवृत्त हुए, नहीं मैं दो हाथ-पैरवाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन कीड़ा था जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता, यहाँ तो घर की केवल

मूँछे ही मूँछें थीं। कुछ मेंह कुछ गंगाजल, काम आपकी कृपा से भली भाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किये। हे सुजन शुभचिन्तको ! संसार में पाठशाला अनेक हुई होंगी परन्तु हरिकृपा से जो आप लोगों की सकलपूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी अचरज नहीं कि आपने इस जन्म में न देखी सुनी हो। होनहार बलवान है, नहीं कलिकाल में ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए, यह हम लोगों के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्धमणि शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गये, जिनको सतयुग के आदि में इन्द्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और बन जंगलों में खोजता फिरा, अन्त को हार मान बृहस्पति का रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैं कि यह हमारे भाग्य ही की महिमा था कि वे ही पण्डितराज मृगयाशील श्वान के मुख में शशा के धोखे बद्रिकाश्रम की एक कंदरा में से पड़ गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा करते दिन में सरस्वती भी लजाती है। इसमें संदेह नहीं कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पंडित मूर्ख और अबोध पंडित हो जायेंगे। हे मित्र ! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं इनका नाम पंडित पाखंडप्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मानता थी। सब स्त्री-पुरुषों को इन्होंने मोह रक्खा था। परन्तु अब कालचक्र के मारे अंगरेजी पढ़े हिन्दुस्तानियों ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई में हरित दूर्बापर सन्तोषकर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था दृष्टि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान शृगाल के संग दिन काटने पड़े। परन्तु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि

एक कार्तिक मास भी इनको लोग थिर रह जाने देंगे तो हरिकृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार पाँच दिन में पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न, पंडित प्राणान्तकप्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैं। जब तक इस घट में प्राण है तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी न बन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त संसार में विख्यात हैं। चिकित्सा में ऐसे कुशल हैं कि चिता पर चढ़ते-चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो, क्षण भर में स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधी नहीं देते केवल उसी समय तक प्राणी के संसारी विथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की उपेक्षा कीजिए, इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी। आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परन्तु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दण्ड पंडित हैं। ज्योतिष-विद्या में अति कुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूँढ़ आये हैं और कितने ही नवीन ग्रन्थों की भी रचना कर डाली है। उनमें से "तामिस्र मकरालय" प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परन्तु तारे इनकी आँखों में भली भाँति बैठ गये हैं।

रहे पंडित शीलदावानल नीतिदर्पण। इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा-सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बाल-ब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु भर नीतिशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी, परन्तु वेणु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशु-पाल, कंस आदि अनेक मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई

कठिन काम आकर पड़ता है तो अंगरेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें! ऐसा तो संयोग इस संसार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने-अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिन्ता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं, और दिया भी तो अभी दस पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बाँध देंगे, नहीं यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला सम्बन्धी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर नास लिया करें।

४—गद्यगीत

सूर्य्योदय

देखो! सुर्य्य का उदय हो गया। अहा! इसकी शोभा इस समय ऐसी दिखाई पड़ती है मानों अन्धकार को जीतने का दिन ने यह गोला मारा है, अथवा प्रकाश का यह पिंड है वा आकाश का यह कोई बड़ा लाल कमल खिला है, वा लोगों के शुभाशुभ कर्म्म को खरोद का यह चक्र है, अथवा चन्द्रमा के रथ का पहिया है, घिसने से लाल हो गया है, अथवा काल के निर्लेप होने की सौगंध खाने का यह तपाया हुआ लोहे का गोला है, अथवा उस बड़े आतिशबाज का, जिसने रात को अद्भुत गंज सितारा छोड़ा था, वा दिन का गुब्बारा है वा यह एक लाल व्योमयान (बेलून) है जो समय को लिए इधर-उधर फिरा करता है, वा सांसारियों का दिन के काम पर जो अनुराग है यह उसका समूह है, वा पूर्व दिशा का माणिक्य का सीसफूल है, वा लाल खिलाड़ी का यह लाल पतंग है, वा समय रेल की आगमन सूचक यह आगे

की लाल लालटेन है, वा उस बाजीगर का यह भी एक खेल है कि अधर में एक लाल झाड़ रोशन कर दिया जाता है, वा काल रूपी यह कोई बड़ा गृद्ध है जो जगत् को खाता चला जाता है, वा उस बड़े टकसाल की यह एक अशरफी है जो चन्द्रमा ऐसे रुपये से भी दाम में सोलहगुनी है, वा समयरूपी चलान की पेटी पर यह लाह की मोहर है, वा आकाश रूपी दिगम्बर का भी माँगने का यह ताम्बे का कटोरा है, वा अंधेरे से लड़नेवाले चन्द्रमा वीर की यह खून भरी ढाल है, वा ज्योतिषियों की बुद्धि की घुड़दौड़ का सीमा-चिन्ह है, वा वे कितना भी गिना किये हाथ कुछ न लगा उसी की यह बिन्दु है, वा रात दिन के लेन का तराजू का पलड़ा है, वा मजीठ का कुंड है, वा लाल पत्थर का गुम्मज है वा काल का चक्र है, वा बेलालता का यह पक्की मिट्टी का थावला है, वा जगत के सिर का छत्र है, वा काल महाराज की सूरजमुखी है, वा संसार के सिर की वह लहदार पगड़ी है, वा उस हठीले बालक के खेल का यह चकई है, जो उसकी आज्ञारूपी डोर पर ऊँची नीची हुआ करती है, वा जगत् को जगाने का नगाड़ा है, वा सबको उठते शकुन होने को यह सामने दिशा की लाल हथेली है, वा उस कर्म्मकांडी का यह अग्निकुंड है जिसमें नित्य वह जगत् की आयु होम करता है, वा उस मंगलमूर्ति की यह मंगला आरती है, वा उस दरबार के गरज देने की यह घड़ी है, वा कोई लाल आरसी सामने खड़ी है, वा उस परम प्रकाशित भवन का यह मोखा है, वा आकाश सरोवर का यह लाल कछुवा है, वा किरणों की जाल फैलानेवाला कोई मछुवा है, जगत को मृगतृष्णा भ्रम के जादू में फँसाने का छूमन्तर का पिटारा है, वा उस कबूतरबाज का सुरखा लक्का कबूतर है, वा सम्वत् जलानेवाली होली है, वा संसार का सिरमौर है, वा जगत् पर दयाल के अपार अनुराग का यह एक किनका है, वा लोगों के भले बुरे कामों के लाल बही

पर लेखा लगाने की यह दवात है, वा उसके दरबार के शिखर का कलस है, वा समय की आँच में जगत् पकाने का पजावा है वा वह उस भार का मुँह है जिसका संसार लावा है, वा होनहार की सवारी का बनाती चकडोल है, वा संसार का पानी खींचनेवाला डोल है, वा दिक्कुंजर का रंगीन हौदा है, वा उस व्योपारी का यह भी एक बटखरा है जिसका काल की इस संसाररूपी रण भूमि की नदी का फेन है, वा कालसर्प का फन है, वा समयरूपी मतवाले हाथी की घंटी है, वा जगत् जालसाज का मन है, इसीसे सारा टण्टा है, वा लोगों की बुद्धिरूपी सरस्वती का कुण्ड है, वा कालकबन्ध का मुण्ड है, वा आकाश दर्पण में यह भूगोल का प्रतिबिम्ब है, वा चन्द्रमा का बड़ा भाई है, वा केसर के रंग का फुहारा है, या भूगोल में जहाँ लाखों ग्रह पड़े हैं वहाँ एक ग्रह भी छोटा मोटा लाल मण्डल है, वा पूर्व दिशा सोहागिनि का सिन्धोरा है, वा शकुन का नारियल का गोला है जो रोली में बोरा है, वा लोक का दीप है, या सर्वदा फैशन बदलनेवाले काल की चद्दरदार टोपी है, वा सच पूछो तो उसकी जेबी घड़ी वरंच धरम घड़ी है, वा नीलम की तख्ती पर एक चुन्नी जड़ी है, वा नभ का मुकुट है, वा आलोक का खान है, वा जगत् पीसने को चक्की है, वा कपट नाटक सूत्रधार का यह भी कोई गोल-मटोल लाल चेहरा है, या उस खिलाड़ी की शतरंज का कोई सुर्ख मुहरा है।

५—नाटक

सत्य हरिश्चन्द्र

चौथा अंक

स्थान—दक्षिण श्मशान, नदी, पीपल का बड़ा पेड़, चिता, मुरदे, कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि।

(कम्बल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिये राजा हरिश्चन्द्र दिखाई पड़ते हैं।)

ह०—(लम्बी साँस लेकर) हाय, अब जन्म भर यही दुख भोगना पड़ेगा!

जाति दास चंडाल की, घर घनघोर मसान
कफन-खसोटी को करम, सब ही एक समान

न जाने, विधाता का क्रोध इतने पर शान्त हुआ कि नहीं। बड़ों ने सच कहा है कि दुःख से दुःख जाता है। दक्षिणा का ऋण चुका तो यह कर्म करना पड़ा। हम क्या सोचें? अपनी अनाथ प्रजा को, या दीन नातेदारों को, या अशरण नौकरों को, या रोती हुई दासियों को, या सूनी अयोध्या को, या दासी बनी महारानी को, या उस अनजान बालक को, या अपने ही इस चंडालपने को। हा! बटुक के धक्के से गिरकर रोहिताश्व ने क्रोध भरी और रानी ने जाते समय करुणाभरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था वह अब तक नहीं भूलती! (घबड़ाकर) हा देवी! सूर्य-कुलकी बहू और चन्द्रकुल की बेटी होकर तुम बेची गई और दासी बनीं। हा! तुम जिन सुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गूँथ सकती थीं उनसे बरतन कैसे मांजोगी? (मोह प्राप्त होना चाहता है, पर सम्हलकर) अथवा क्या हुआ? यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चन्द्र ने सत्य छोड़ा।

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मन्द
राख्यो निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द

(आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है।)

अरे! यह असमय में पुष्प-वृष्टि कैसी? कोई पुण्यात्मा का मुरदा आया होगा। तो हम सावधान हो जायँ (लट्ठ कन्धे पर रख कर फिरता हुआ) खबरदार! खबरदार!! बिना हमसे कहे और बिना हमें आधा कफन दिये कोई संस्कार न करे (यही

कहता हुआ निर्भय मुद्रा से इधर-उधर देखता फिरता है।)
(नेपथ्य में कोलाहल सुनकर) हाय! हाय! कैसा भयंकर श्मशान है। दूर से मण्डल बाँध बाँध कर चोंच बाए, डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच नोचकर आपुस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यन्त कर्णकटु अमङ्गल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं! उधर चिराइन फैलाती हुई चटचट करती चिताएँ कैसी जल रही हैं! जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू या चरबी बहती है, आग का रंग मांस के सम्बन्ध से नीला पीला हो रहा है, ज्वाला घूम घूमकर निकलती है। आग कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मन्द हो जाती है। धूँआ चारों ओर छा रहा है। (आगे देखकर आदर से) अहा! यह बीभत्स व्यापार भी बड़ाई के योग्य है। शव! तुम धन्य हो कि इन पशुओं के इतने काम आते हो; अतएव कहा है—

"भरनो भलो विदेश को, जहाँ न अपुनो कोय
माटी खाय जनावरां, महा महोच्छव होय"

अहा! देखो।

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनन्द उर धारत
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै माँस उचारत
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान विचारत
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ्यो सब को हियो
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो

अहा! शरीर भी कैसी निस्सार वस्तु है!

सोई मुख सोई उदर, सोई कर पद दोय
भयो आजु कछु और ही, परसत जेहि नहिं कोय

हाड़ माँस लाला रकत, बसा तुचा सब सोय
छिद्र भिन्न दुरगन्ध मय, मरे मनुस के होय
कादर जेहि लखि कै डरत, पण्डित पावत लाज
अहो ! व्यर्थ संसार को, विषय वासना साज

अहा मरना भी क्या वस्तु है !

सोई मुख जेहि चन्द बखान्यौ
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यौ
सोई भुज जे प्रिय गर डारे
सोई भुज जिन नर विक्रम मारे
सोई पद जिहि सेवक बन्दत
सोई छवि जेहि देखि अनन्दत
सोइ रसना जहँ अमृत बानी
जेहि सुनि कै हिय नारि जुड़ानी
सोई हृदय जहँ निज भाव अनेका
सोई सिर जहँ निज बच टेका
सोई छवि-मय अंग सुहाए
आजु जीव बिनु धरनि सुवाए
कहाँ गई वह सुन्दर सोभा
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा
प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत
ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत
फूल बोझहू जिन न सँहारे
तिन पै बोझ काठ बहु डारे
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी
करत कपालक्रिया तिन केरी
छिन हूँ जे न भये कहुँ न्यारे
तेऊ बन्धुगन छोड़ि सिधारे

जो दृगकोर महीप निहारत
आजु काक तेंहि भोज विचारत

भुजबल जे नहिं भुवन समाए
ते लखियत मुख कफन छिपाए

नरपति प्रजा भेद बिनु देखे
गने काल सब एकहि लेखे

सुभग कुरूप अमृत बिस साने
आजु सबै इक भाव बिकाने

पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं
रहे नावहीं ग्रन्थन माहीं

अहा ! देखो वही सिर, जिस पर मन्त्र से अभिषेक होता था, अभी नवरत्न का मुकुट रक्खा जाता था, जिसमें इतना अभिमान था कि इन्द्र को भी तुच्छ गिनता था, और जिसमें बड़े बड़े राज जीतने के मनोरथ भरे थे, आज पिशाचों का गेंद बना है और लोग उसे पैर से छूने में भी घिन करते हैं। (आगे देखकर) अरे यह श्मशान देवी है। अहा ! कात्यायनी को भी कैसा बीभत्स उपचार प्यारा है ! यह देखो ! डोम लोगों ने सूखे गले सड़े फूलों की माला गंगा में से पकड़ कर देवी को पहिना दी है और कफन की ध्वजा लगा दी है। मरे बैल और भैंसों के गले के घंटे पीपल की डार में लटक रहे हैं, जिनमें लोलक की जगह नली की हड्डी लगी है। घंट के पानी से चारों ओर से देवी का अभिषेक होता है और पेड़ के खम्भे में लोहू के थापे लगे हैं। नीचे जो उतारों की बलि दी गई है उसके खाने को कुत्ते और सियार लड़-लड़ कर कोलाहल मचा रहे हैं। (हाथ जोड़कर) "भगवति ! चंडि ! प्रेते ! प्रेताविमाने ! लसत् प्रेते ! प्रेतास्थि रौद्र रूपे ! प्रेताशिनि ! भैरवि ! नमस्ते" (नेपथ्य में) राजन् ! हम

केवल चण्डालों के प्रणाम के योग्य हैं। तुम्हारे प्रणाम से हमें लज्जा आती है। माँगो क्या वर माँगते हो ?

ह०—(सुनकर आश्चर्य से) भगवति ! यदि आप प्रसन्न हैं तो हमारे स्वामी का कल्याण कीजिए। (नेपथ्य में) साधु महाराज हरिश्चन्द्र साधु !

ह०—(ऊपर देखकर) अहा ! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनी-वल्लभ और लौकिक वैदिक दोनों कर्म का प्रवर्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचण्ड प्रताप क्षण क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगन का दीपक और कालसर्प का शिखामनि था, वह इस समय पर वृद्ध गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गँवा कर देखो समुद्र में गिरा चाहता है।

अथवा

साँझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है
पच्छिन के बहु शब्दन के मिस जीभ उचाटन मन्त्र कह्यो है
मद्य भरी नरखोपरी सो ससि को नव बिम्बहु धाइ गह्यो है
दै बलि जीव पसू यह मत्त है काल कपालिक नाचि रह्यो है
सूरज धूप बिना की चिता सोइ अन्त मैं ले जल माहिं बहाई
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगगण रोअत सो मनु लोग लोगाई
धूम अँधार कपाल निसाकर हाड़ नछत्र लहू सी ललाई
आनन्द हेतु निसाचर के यह काल मसान सी साँझ बनाई

अहा ! यह चारों ओर से पक्षी लोग कैसा शब्द करते हुए अपने-अपने घोसलों की ओर चले आते हैं। वर्षा से नदी का भयंकर प्रवाह। साँझ होने से श्मशान के पीपल पर कौओं का एक संग अमङ्गल शब्द से काँव काँव करना और रात के आगम से एक सन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है। अन्धकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इस श्मशान-

वासी मण्डूकों का टरटर करना भी कैसा डरावना मालूम होता है !

> रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनिकै नर नारी
> फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी
> अन्धकारनम गिरत काक अरु चील करत रव
> गिद्ध गरुड़ हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव
> रोअत सियार गरजत नदी स्वान भूंकि डरपावई
> संग दादुर भींगुर रुदन धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई

किसी का सिर चिता के नीचे लटक रहा है, कहीं आँच से हाथ पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं बिलकुल कच्चा है, किसी को किनारे ही छोड़ दिया है, किसी का मुँह जल जाने से दाँत निकला हुआ भयंकर हो रहा है और कोई आग में ऐसा जल रहा है कि कहीं पता भी नहीं है। वाह रे शरीर ! तेरी क्या क्या गति होती है !!! सचमुच मरने पर इस शरीर को जला ही देना योग्य है, क्योंकि ऐसे रूप और गुण जिस शरीर में थे उसको कीड़ों वा मछलियों से नुचवाना और सड़ाकर दुर्गन्धमय करना बहुत ही बुरा है। न कुछ शेष रहेगा न दुर्गति होगी। हा ! चलो आगे चलें। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर उधर घूमता है।) (पिशाच और डाकिनीगण परस्पर आमोद करते और गाते बजाते हुए आते हैं।)

पि० और डा०—हैं भूत प्रेत हम डाइन हैं छमाछम
हम सेवैं मसान शिव को भजैं बोलैं बम बम बम

पि०—हम कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ैंगे
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सब का फोड़ैंगे

डा०—हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावैंगी
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावैंगी

सब—हम नाचैं मिलकर थेई थेई थेई थेई कूदैं धम् धम् धम्। हैं भू० ॥

पि०—हम काट काट कर सिर को गेंदा उछालैंगे
हम खींच खींच कर चरबी पंशाखा बालैंगे

डा०—हम माँग में लाल लाल लोहू का सेंदुर लगावेंगी
हम नस के तागे चमड़े का लहंगा बनावैंगी

सब—हम धज से सज के बज के चलैंगे चमकैंगे चम चम चम

पि०—लोहू का मुंह से फर फर फुहारा छोड़ैंगे
माला गले पहिरने को अंतड़ी को जोड़ैंगे

डा०—हम लाद के औंधे मुरदे चौकी बनावैंगी
कफन बिछा के लड़कों को उस पर सुलावैंगी

सब—हम सुख से गावैंगे ढोल बजावैंगे ढम ढम ढम ढम ढम

(वैसे ही कूदते हुए एक ओर से चले जाते हैं)

ह०—(कौतुक से देखकर) पिशाचों की क्रीड़ा—कुतूहल भी देखने के योग्य है। अहा! यह कैसे काले काले झाड़ू से सिर के बाल खड़े किये लम्बे लम्बे हाथ पैर विकराल दाँत लम्बी जीभ निकाले इधर उधर दौड़ते और परस्पर किलकारी मारते हैं मानों भयानक रस की सेना मूर्तिमान होकर यहाँ स्वच्छन्द विहार कर रही है। हाय हाय! इनका खेल और सहज व्योहार भी कैसा भयंकर है! कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है, कोई खोपड़ियों में लहू भर भर के पीता है, कोई सिर का गेंद बना खेलता है, कोई अँतड़ी निकाले गले में डाले है और चन्दन की भाँति चरबी और लहू शरीर में पोत रहा है, एक दूसरे से मांस छीन कर ले भागता है, एक जलता मांस मारे तृष्णा के मुँह में रख लेता है पर जब गरम मालूम पड़ता है तो थू थू करके थूक देता है और दूसरा उसी को फिर झट से खा जाता है। हा! देखो यह चुड़ैल एक

स्त्री की नाक नथ समेत नोच लाई है। जिसे देखने को चारों ओर से सब भूत एकत्र हो रहे हैं और सभी को इसका बड़ा कौतुक हो गया है। हँसी में परस्पर लोहू का कुल्ला करते और जलती लकड़ी और मुरदों के अंगों से लड़ते हैं और उनको ले लेकर नचाते हैं। यदि तनिक भी क्रोध में आते हैं तो श्मशान के कुत्तों को पकड़-पकड़ कर खा जाते हैं। अहा! भगवान् भूतनाथ ने बड़े कठिन स्थान पर योग साधना की है। (खबरदार! इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है) (ऊपर देखकर) आधी रात हो गई, वर्षा के कारण अँधेरी बहुत ही छा रही है, हाथ से हाथ नहीं सूझता! चांडालकुल की भाँति श्मशान पर तम का भी आज राज हो रहा है! (स्मरण करके) हा! इस दुःख की दशा में भी हम से प्रिया अलग पड़ी है। कैसी भी हीन अवस्था हो पर अपना प्यारा जो पास रहे तो कुछ कष्ट नहीं मालूम पड़ता। सच है—

"टूट टाट घर टपकत खटिऔ टूट
पिय कै बांह उसिसवा सुख के लूट"

विधना ने इस दुःख पर भी वियोग दिया। हा! यह वर्षा और यह दुःख! हरिश्चन्द्र का तो ऐसा कठिन कलेजा है कि सब सहेगा, पर जिसने सपने में भी दुःख नहीं देखा वह महारानी किस दशा में होगी। हा देवी! धीरज धरो, धीरज धरो! तुमने ऐसे ही भाग्यहीन से स्नेह किया है, जिसके साथ सदा दुःख ही दुःख है। (ऊपर देखकर) पानी बरसने लगा। अरे! (धोती भली भाँति ओढ़कर) हमको तो यह वर्षा और श्मशान दोनों एक ही से दिखाई पड़ते हैं। देखो—

चपला की चमक चहूँघा सों लगाई चिता
चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है
हेती बगमाल स्याम बादर सुभूमिकारी
बीरबधू लहू बूंद भुव लपटायो है

हरीचंद नीरधार आँसू सी परत जहाँ
दादुर की मोर रोर दुखिन मचायो है
दारुन वियोग दुखियान को मरे हू
यह देखो पापी पावस मसान बनि आयो है

(कुछ देर तक चुप रहकर) कौन है ? (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरकर)

इन्द्र काल हू सीरस जो, आयसु लाँघे कोय
यह प्रचण्ड भुजदंड मम, प्रतिभट ताको होय

अरे कोई नहीं बोलता। (कुछ आगे बढ़कर) कौन ? (नेपथ्य में) हम हैं।

ह०—अरे ! हमारी बात का यह उत्तर कौन देता है ? चलें जहाँ से आवाज आई है वहाँ चल कर देखें। (आगे बढ़कर नेपथ्य की ओर देखकर) अरे यह कौन है ?

चिता भस्म सब अंग लगाए। अस्थि अभूषण विविध बनाए,
हाथ मसान कपाल जगावत। का यह चल्यो रुद्र सम आवत

(कापालिक के वेष में धर्म आता है)

धर्म—अरे हम हैं।

शुचि अयाचित आत्मरति, करि जग के सुख त्याग
फिरहिं मसान मसान हम, धारि अनन्द विराग

(आगे बढ़कर महाराज हरिश्चन्द्र को देखकर आप ही आप)

हम प्रत्यक्ष हरि रूप जगत हमरे बल चालत
जल थल नभ थिर मम प्रभाव मरजाद न टालत
हमहीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी
हमहीं इक सँग जात तजत जब पितु सुत नारी

सो हम नित थित इक सत्य में जाके बल सब जग जियो
सोइ सत्य परिच्छिन्न नृपति को आजु भेष हम यह कियो

(कुछ सोचकर) राजर्षि हरिश्चन्द्र की दुःख-परम्परा अत्यन्त शोचनीय और इनके चरित्र अत्यन्त आश्चर्य के हैं। अथवा महात्माओं का यह स्वभाव ही होता है—

सहत विविध दुख मरि मिटत, भोगत लाखन सोग
पै निज सत्य न छांड़हीं, जे जग सांचे लोग
वरु सूरज पच्छिम उगै, विन्ध्य तरै जल माहिं
सत्य वीर जन पै कबहुँ, निज बच टारत नाहिं

अथवा उनके मन इतने बड़े हैं कि दुख को दुख सुख को सुख गिनते ही नहीं, चलें उनके पास चलें। (आगे बढ़कर और देखकर) अरे ! यही महात्मा हरिश्चन्द्र हैं ?

(प्रगट) महाराज ! कल्याण हो।

ह०—(प्रणाम करके) आइए योगिराज !

(लज्जा और विकलता नाट्य करता है।)

ध०—महाराज ! आप लज्जा मत कीजिए। हम लोग योग-बल से सब कुछ जानते हैं। आप इस दशा पर भी हमारा अर्थ-पूर्ण करने को बहुत हैं। चन्द्रमा राहु से ग्रसा रहता है तब भी दान दिलवा कर भिक्षुकों का कल्याण करता है।

ह०—हमारे योग्य जो कुछ हो आज्ञा कीजिए।

ध०—अंजन गुटिका पादुका, धातु भेद बैताल
वज्र रसायन जोगिनी, मोहि सिद्ध यहि काल

ह०—तो मुझे जो आज्ञा हो वह करूँ ?

ध०—आज्ञा यही है कि यह सब मुझे सिद्ध हो गये हैं पर विघ्न इसमें बाधक होते हैं, सो विघ्नों का निवारण कर दीजिए।

ह०—आप जानते हैं कि मैं पराया दास हूँ; इसे जिसमें धर्म न जाय वह मैं करने को तैयार हूँ।

ध०—(आप ही आप) राजन्! जिस दिन तुम्हारा धर्म जायगा उस दिन पृथ्वी किस के बलसे ठहरेगी। (प्रत्यक्ष) महाराज! इसमें धर्म न आयगा, क्योंकि स्वामी की आज्ञा तो आप उल्लंघन करते ही नहीं। सिद्धि का आकार इसी श्मशान के निकट ही है और मैं अब पुरश्चरण करने जाता हूँ। आप विघ्नों का निषेध कर दीजिए।

(जाता है)

ह०—(ललकार कर) हटो रे हटो विघ्नों! चारों ओर से तुम्हारा प्रचार हमने रोक दिया। (नेपथ्य में) महाराजाधिराज! जो आज्ञा। आपसे सत्य वीर की आज्ञा कौन लांघ सकता है?

खुल्यो द्वार कल्यान को, सिद्ध जोग तप आज
निधि सिधि विद्या सब करहिं, अपुने मन को काज

ह०—(हर्ष से) बड़े आनन्द की बात है कि विघ्नों ने हमारा कहना मान लिया (विमान पर बैठी हुई तीनों महाविद्या आती हैं।)

म० वि०—महाराज हरिश्चन्द्र बधाई है। हमीं लोगों को सिद्ध करने को विश्वामित्र ने बड़ा परिश्रम किया था, तब देवताओं ने माया से आपको स्वप्न में हमारा रोना सुना कर हमारा प्राण बचाया।

ह०—(आप ही आप) अरे! यही सृष्टि को उत्पन्न, पालन और नाश। करनेवाली महाविद्या हैं, जिन्हें विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके। (प्रगट हाथ जोड़कर) त्रिलोक विजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है।

म० वि०—महाराज! हम लोग तो आपके बस में हैं। हमारा आशीर्वाद ग्रहण कीजिए।

ह०—देवियो! यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वशवर्तिनी हो; उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है।

म० वि०—धन्य महाराज ! धन्य, जो आज्ञा ।

(जाती हैं)

(धर्म एक बेताल के सिर पर पिटारा रखवाए हुए आता है)

ध०—महाराज का कल्याण हो ; आपकी कृपा से महानिधान सिद्ध हुआ। आपको बधाई है । अब लीजिए इस रसेन्द्र को ।

याही के परभाव सों, अमर देव मम होइ
जोगी जन विहरहिं सदा, मेरु शिखर भय खोइ

ह०—(प्रणाम करके) महाराज ! दासधर्म के यह विरुद्ध है । इस समय स्वामी से कहे बिना मेरा कुछ भी लेना स्वामी को धोखा देना है ।

ध०—(आश्चर्य से आप ही आप) वाह रे महानुभाव ! (प्रगट) तो इससे स्वर्ण बनाकर आप अपना दास्य छुड़ा लें ।

ह०—यह ठीक है पर मैंने तो विनती किया न कि जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है । क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना सत्वमात्र बेच चुका, इससे आप मेरे बदले कृपा करके मेरे स्वामी ही को यह रसेन्द्र दीजिए ।

ध०—(आश्चर्य से आप ही आप) धन्य हरिश्चन्द्र ! धन्य तुम्हारा धैर्य ! धन्य तुम्हारा विवेक ! और धन्य तुम्हारी महानुभावता ! या—

चले मेरु वरु प्रलय जल, पवन झकोरन पाय
पै वीरन के मन कबहुं, चलहिं नाहिं ललचाय

तो हमें भी इसमें कौन हठ है । (प्रत्यक्ष) बैताल ! जाओ ।

बै०—जो रावल जी की आज्ञा ! (जाता है ।)

ध०—महाराज ! ब्राह्ममुहूर्त निकट आया अब हमको भी आज्ञा हो ।

ह०—योगिराज ! हमको भूल न जाइयेगा, कभी-कभी स्मरण कीजियेगा।

ध०—महाराज ! बड़े-बड़े देवता आपका स्मरण करते हैं और करेंगे, मैं क्या कहूँ।

(जाता है।)

ह०—क्या रात बीत गई ! आज तो कोई भी मुरदा नया नहीं आया। रात के समय ही श्मशान भी शान्त हो चला, भगवान् नित्य ही ऐसा करें।

(नेपथ्य में घंटा नूपुरादि का शब्द सुनकर)

अरे ! यह बड़ा कोलाहल कैसा हुआ ?

(विमान पर अष्ट महासिद्धि, नवनिधि और बारहों प्रयोग आदि देवता आते हैं)

ह०—(आश्चर्य से) अरे ! यह कौन देवता बड़े प्रसन्न होकर श्मशान पर एकत्र हो रहे हैं !

दे०—महाराज हरिश्चन्द्र की जय हो। आपके अनुग्रह से हम लोग विघ्नों से छूटकर स्वतन्त्र हो गये। अब हम आपके वश में हैं, जो आज्ञा हो करें। हम लोग अष्टमहासिद्धि, नवनिधि और बारह प्रयोग सब आपके हाथ में हैं।

ह०—(प्रणाम करके) यदि हम पर आप लोग प्रसन्न हो तो महासिद्धि योगियों के, निधि सज्जनों के और प्रयोग साधकों के पास जाओ।

दे०—(आश्चर्य से) धन्य राजर्षि हरिश्चन्द्र ! तुम्हारे बिना और ऐसा कौन होगा जो घर आई लक्ष्मी का त्याग करे। हमीं लोगों की सिद्धि को बड़े बड़े योगी मुनि पच मरते हैं। पर तुमने तृण की भाँति हमारा त्याग करके जगत् का कल्याण किया।

ह०—आप लोग मेरे सिर आँखों पर हैं पर मैं क्या करूँ, क्योंकि मैं पराधीन हूँ। एक बात और भी निवेदन है। वह यह

कि अच्छे प्रयोग की तो हमारे समय में सद्यः सिद्धि होय पर बुरे प्रयोगों की सिद्धि विलम्ब से हो।

दे०—महाराज ! जो आज्ञा । हम लोग जाते हैं। आज आपके सत्य ने शिवजी के कीलन को भी शिथिल कर दिया। महाराज का कल्याण हो। (जाते हैं)

(नेपथ्य में इस भाँति मानों राजा हरिश्चन्द्र नहीं सुनता)

(एक स्वर से) तो अप्सरा को भेजें ?

(दूसरे स्वर से) छिः मूर्ख ! जिसको अष्टसिद्धि नव-निधियों ने नहीं डिगाया उसको अप्सरा क्या डिगावेंगी ?

(एक स्वर से) तो अब अन्तिम उपाय किया जाय ?

(दूसरे स्वर से) हाँ, तक्षक को आज्ञा दें।

अब और कोई उपाय नहीं है।

हा०—अहा ! अरुण का उदय हुआ चाहता है। पूर्व दिशा ने अपना मुँह लाल किया। (साँस लेकर)

या चकई को भयो चित चीतो चितोति चहुं दिशि चाय सों नाची
ह्वै गई छीन कलाधर की कला जामिनी जोति मनो जम जाँची
बोलत बैरी बिहंगम देव संजोगिन की भई सम्पति काँची
लोहू पियो जो वियोगिन को सो कियो मुख लाल पिशाचिनी प्राची

हा ! प्रिये ! इन बरसातों की रात को तुम रो रो के बिताती होगी। हा ! वत्स रोहिताश्व, भला हम लोगों ने तो अपना शरीर बेचा तब दास हुए, तुम बिना बिके ही क्यों दास बन गये ?

जेहि सहसन परिचारिका राखत हाथहिं हाथ
सो तुम लोटत धूर में दास बालकन साथ
जाकी आयसु जग नृपति सुनतहिं धारत सीस
तेहि द्विज-बटु आज्ञा करत अहह कठिन अति ईस
बिनु तन बेचे बिनु दिये, बिनु जग ज्ञान विवेक
दैव-सर्प दंशित भये भोगत कष्ट अनेक

(घबड़ाकर) नारायण ! नारायण ! मेरे मुख से क्या निकल गया ? देवता उसकी रक्षा करें। (बाईं आँख का फड़कना दिखाकर) इसी समय में यह अपशकुन क्यों हुआ ? (दाहिनी भुजा का फड़कना दिखाकर) अरे और साथ ही यह मङ्गल शकुन भी ! न जाने क्या होनहार है ? वा अब क्या होनहार है ! जो होना था सो हो चुका। अब इससे बढ़कर और कौन दशा होगी ? अब केवल मरण मात्र बाकी है। इच्छा तो यही है कि सत्य छूटने और दीन होने के पहले ही शरीर छूटे, क्योंकि इस दुष्ट चित्त का क्या ठिकाना है परवश क्या है ?

(नेपथ्य में)

पुत्र हरिश्चन्द्र ! सावधान ! यही अन्तिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरखा इक्ष्वाकु से लेकर त्रिशंकु पर्यन्त आकाश में नेत्र भरे खड़े तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आज तक इस वंश में ऐसाकठिन दुःख किसी को नहीं हुआ था। ऐसा न हो कि इनका सिर नीचा हो। अपने धैर्य को स्मरण करो।

ह०—(घबड़ाकर ऊपर देखकर) अरे यह कौन है ? कुलगुरु भगवान सूर्य अपना तेज समेटे मुझे अनुशासन कर रहे हैं। (ऊपर) पितः मैं सावधान हूँ, सब दुखों को फूल की माला की भाँति ग्रहण करूँगा।

(नेपथ्य में रोने की आवाज सुन पड़ती है)

ह०—अरे अब सबेरा होने के समय मुरदा आया। अथवा चांडाल कुल का सदा कल्याण हो, हमें इससे क्या ?

(खबरदार इत्यादि कहता हुआ फिरता है।)

(नेपथ्य में)

हाय ! कैसी भई ! हाय बेटा ! हमें रोती छोड़ के कहाँ चले गये ! हाय ! हाय रे !

हा०—अहह किसी दीन स्त्री का शब्द है, और शोक भी इसको पुत्र का है। हाय हाय ! हमको भी भाग्य ने क्या ही निर्दय और बीभत्स कर्म सौंपा है ! इससे भी वस्त्र माँगना पड़ेगा।

(रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिये आती है)

शै०— (रोती हुई) हाय बेटा ! जब बाप ने छोड़ दिया तब तुम भी छोड़ चले ! हाय ! हमारी विपत्ति और बुढ़ौती की ओर भी तुमने न देखा ! हाय ! हाय रे ! अब हमारी कौन गति होगी। (रोती है)

हा०—हाय हाय ! इसके पति ने भी इसको छोड़ दिया है। हा ! इस तपस्विनी को निष्कारण विधि ने बड़ा ही दुःख दिया है।

शै०—(रोती हुई) हाय बेटा ! अरे आज मुझे किसने लूट लिया ! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई। हाय अब मैं किसका मुँह देख के जीऊँगी ! हाय मेरी अन्धी की लकड़ी कौन छीन ले गया ? हाय मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला ? अरे बेटा तैं तो मरे पर भी सुन्दर लगता है ! हाय रे ! अरे बोलता क्यों नहीं ? बेटा जल्दी बोल, देख, माँ कब की पुकार रही है ! बच्चा ! तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़कर गले से लपट जाता था, आज क्यों नहीं बोलता ?

(शव को बार-बार गले लगाती, देखती और चूमती है)

ह०—हाय हाय ! इस दुखिया के पास तो खड़ा नहीं हुआ जाता।

शै०—(पागल की भाँति) अरे यह क्या हो रहा है ? बेटा कहाँ गये हो ? आओ जल्दी ! अरे अकेले इस मसान में मुझे डर लगता है, यहाँ मुझको कौन ले आया है रे ? बेटा जल्दी आओ। अरे क्या कहते हो, मैं गुरु को फूल लेने गया था, वहाँ काले साँप ने मुझे काट लिया ? हाय ! हाय रे !! अरे कहाँ काट लिया ? अरे कोई दौड़के किसी गुनी को बुलाओ जो जिलावे

बच्चे को। अरे वह साँप कहाँ गया, हमको क्यों नहीं काटता ? काट रे काट, क्या उस उस सुकुमार बच्चे ही पर बल दिखाना था ? हमें काट। हाय ! हमको नहीं काटता। अरे यहाँ तो कोई साँप वाँप नहीं है। मेरे लाल झूठ बोलना कब से सीखे ? हाय हाय ! मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते ? बेटा ! गुरु जी पुकार रहे हैं, उनके होम की बेला निकली जाती है। देखो, बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठे हैं। दो जल्दी उनको दूब और बेलपत्र ! हाय ! हमने इतना पुकारा तुम कुछ नहीं बोलते ! (जोर से) बेटा साँझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आये; तुम अब तक क्यों नहीं आये ? (आगे शव देखकर हाय हाय रे ! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया ! हाय लाल ! हाय मेरे आँखों के उँजियाले को कौन ले गया ! हाय मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया !

बेटा ! अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया ! हाय मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया ! हाय मेरी कोख में किसने आग लगा दी ! हाय मेरा कलेजा किसने निकाल लिया ! (चिल्ला चिल्ला कर रोती है) हाय लाल कहाँ गये ? अरे ! अब मैं किस का मुँह देखके जीऊँगी ? हाय ! अब माँ कहके मुझको कौन पुकारेगा ? अरे, आज किस बैरी की छाती ठंडी भई रे ? अरे, तेरे सुकुमार अंगों पर भी काल को तनिक दया न आई ! अरे बेटा ! आँख खोलो। हाय ! मैं सब विपत तुम्हारा ही मुँह देख कर सहती थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी। अरे लाल ! एक बेर तो बोलो ! (रोती है।)

ह०—न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।

शै०—(रोती हुई) हा नाथ ! अरे अपने गोद के खेलाये बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते ? हाय ! अरे तुमने तो इसको

हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो हमने इसकी यह दशा कर दी। हाय! अरे ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होते? भला एक बेर लड़के का मुँह तो देख जाओ! अरे, मैं अब किसके भरोसे जीऊँगी?

हा०—हाय हाय! इसकी बातों से तो प्राण मुँह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है। यहाँ से हट चलें (कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता खड़ा हो जाता है।)

शै०—(रोती हुई) हाय! यह विपत्ति का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा! अरे छलिया मुझे छलकर कहाँ भाग गया? (देखकर) अरे आयुस की रेखा तो इतनी लम्बी है, फिर अभी से यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा? अरे ऐसा सुन्दर मुँह बड़ी-बड़ी आँख, लम्बी-लम्बी भुजा, चौड़ी छाती गुलाब सा रंग! हाय मरने के तुझमें कौन-से लच्छन थे जो भगवान् ने तुझे मार डाला! हाय लाल! अरे, बड़े-बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत दिन जीयेगा, सो सब झूठ निकला! हाय! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ दान, जप, होम कुछ भी काम न आया! हाय! तुम्हारे बाप का कठिन पुण्य भी तुम्हारा सहाय न हुआ और तुम चल बसे! हाय!

हा०—अरे, इन बातों से तो मुझे बड़ी शंका होती है (शव को भली भाँति देखकर) अरे! इस लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती के से दिखाई पड़ते हैं। हाय! न जाने किस बड़े कुल का दीपक आज इसने बुझाया है और न जाने किस नगर को आज इसने अनाथ किया है। हाय! रोहिताश्व भी इतना बड़ा हुआ होगा। (बड़े सोच से) हाय हाय! मेरे मुँह से क्या असंगल निकल गया! नारायण! (सोचता है।)

शै०—भगवान् विश्वामित्र ! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुए ! हाय !

ह०—(घबड़ाकर) हाय हाय ! यह क्या ? (भली भाँति देखकर रोता हुआ) हाय ! अब तक मैं संदेह ही में पड़ा हूँ ? अरे मेरी आँखें कहाँ गई थीं जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहिचाना, और कान कहाँ गए थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी ! हा पुत्र ! हा लाल ! हा सूर्य वंश के अंकुर ! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एकमात्र अवलम्ब ! हाय ! तुम ऐसे कठिन समय में दुखिया माँ को छोड़कर कहाँ गए ? अरे तुम्हारे कोमल अंगों को क्या हो गया ? तुमने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख भोगा कि अभी से चल बसे ? पुत्र ! स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझसे कहते, मैं अपने बाहुबल से तुमको इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता । अथवा अभिमान से क्या ? भगवान इसी अभिमान का फल यह सब दे रहा है । हाय पुत्र ! (रोता है) आह ! मुझसे बढ़कर और कौन मन्द होगा । राज्य गया, धन जन कुटुम्ब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्रशोक उपस्थित हुआ । भला अब मैं रानी को क्या मुँह दिखाऊँ ? निस्सन्देह मुझसे अधिक अभागी और कौन होगा ? न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं ? जो कुछ हमने आज तक किया वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख न देखना पड़ता । हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले । निस्सन्देह मैं महा अभागा और बड़ा पापी हूँ । (रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलयकाल आ गया ? नहीं, यह बड़ा भारी असगुन हुआ है । इसका फल कुछ अच्छा नहीं या अब बुरा होना ही क्या बाकी रह गया है जो होगा ? हा ! न जाने किस अपराध से दैव इतना रूठा है । (रोता है) हा सूर्यकुल-आल

बाल-प्रबाल ! हा हरिश्चन्द्र हृदयानन्द ! हा शैव्यावलम्ब ! हा वत्स रोहिताश्व ! हा मातृ-पितृ-विपत्ति-सहचर ! तुम हम लोगों को इस दशा में छोड़कर कहाँ गये ? आज हम सचमुच चंडाल हुए। लोग कहेंगे कि इसने न जाने कौन दुष्कर्म किया था कि पुत्रशोक देखा। हाय ! हम संसार को क्या मुँह दिखावेंगे ? (रोता है) वा संसार में इस बात के प्रगट होने के पहले ही हम भी प्राण त्याग करें ! हा निर्लज्ज प्राण ! तुम अब भी क्यों नहीं निकलते ? हा वज्र हृदय ! इतने पर भी तू क्यों नहीं फटता ? अरे नेत्रो ! अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब तक खुले हो ? या इस व्यर्थ प्रलाप का फल ही क्या है, समय बीता जाता है। इसके पूर्व कि किसी से सामाना हो, प्राण त्याग करना ही उत्तम बात है। (पेड़ के पास जाकर फाँसी देने के योग्य डाल खोजकर उसमें दुपट्टा बाँधता है) धर्म ! मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया, परन्तु जाने किस कारण मेरा सब आचरण तुम्हारे विरुद्ध पड़ा सो मुझे क्षमा करना ! (दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंककर) गोविन्द ! गोविन्द ! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा ! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा ! भगवान् सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे। नारायण नारायण ! इस इच्छाकृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा ? हे सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! क्षमा करना। दुख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, अब तो मैं चांडाल-कुल का दास हूँ, न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र ! चलूँ, अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊँ, वा देखूँ अब दुखिनी शैव्या क्या करती है ? (शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है)

शै०—(पहली तरह बहुत रोकर) हाय ! अब मैं क्या

करूँ ! अब मैं किसका मुँह देखकर संसार में जीऊँगी ? हाय ! मैं आज से निपूती भई ! पुत्रवती स्त्री अपने बालकों पर अब मेरी छाया न पड़ने देंगी ! हा ! नित्य सवेरे उठकर अब मैं किसकी चिन्ता करूँगी ? खाने के समय मेरी गोद में बैठकर और मुझसे माँग-माँगकर अब कौन खायगा ? मैं परोसी थाली सूनी देखकर कैसे प्राण रक्खूँगी ? (रोती है) हाय ! खेलता-खेलता आकर मेरे गले से कौन लपट जायगा ? और माँ-माँ कहकर तनक तनक बातों पर कौन हठ करेगा ? हाय ! मैं अब किसको अपने आंचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी और किसके अभिमान से विपत में भी फूली-फूली फिरूँगी ? (रोती है) या जब रोहिताश्व ही नहीं तो मैं ही जी के क्या करूँगी ! (छाती पीटकर) हाय प्रान ! तुम अब भी क्यों नहीं निकले ? हाय ! मैं ऐसी स्वारथी हूँ कि आत्म-हत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती ! नहीं नहीं, अब मैं न जीऊँगी। या तो पेड़ में फाँसी लगाकर मर जाऊँगी या गंगा में कूद पड़ूँगी (उन्मत्त की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है)

ह० –(आड़ में से)

तनहिं बेंच दासी कहवाई।
मरत स्वामि आयसु बिनु पाई ॥
कवन अधर्म सोच जिय माहीं।
"पराधीन सपने सुख नाहीं ॥"

शै० —(चौकन्नी होकर) अहा ! यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया। सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूँ ! हाय दैव ! तुमसे यह भी न देखा गया कि मैं मरकर भी सुख पाऊँ ? (कुछ धीरज धरके) तो चलूँ छाती पर वज्र धर के अब लोकरीति करूँ। (रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई) हाय ! जिन हाथों से ठोंक-ठोंक कर रोज सुलाती थी

उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रक्खूँगी, जिसके मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे ......(बहुत ही रोती है)

ह०—धन्य देवी, आखिर तो चन्द्र-सूर्यकुल की स्त्री हो, तुम न धीरज करोगी तो और कौन करेगा ?

शै०—(चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती और रोती है ।)

ह०—तो अब चलें उससे आधा कफन माँगें । (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आँसुओं को रोककर शैव्या से) महाभागे ! श्मशान-पति की आज्ञा है कि आधा कफन दिये बिना कोई मुरदा फूँकने न पावे सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो (कफन माँगने को हाथ फैलाता है, आकाश से पुष्पवृष्टि होती है ।)

(नेपथ्य में)

अहो धर्य्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम् ।
त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्वलोकोत्तरं कृतम् ॥

(दोनों आश्चर्य से ऊपर देखते हैं)

शै०—हाय ! इस कुसमय में आर्यपुत्र की यह कौन स्तुति करता है ? वा इस स्तुति ही से क्या है, शास्त्र सब असत्य हैं नहीं तो आर्यपुत्र से धर्मी की यह गति हो ! यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाखण्ड है ।

ह०—(दोनों कानों पर हाथ रख कर) नारायण ! नारायण ! महाभोग ! ऐसा मत कहो, शास्त्र ब्राह्मण और देवता त्रिकाल में सत्य हैं । ऐसा कहोगी तो प्रायश्चित होगा । अपना धर्म विचारो । लाओ मृतकम्बल हमें दो और अपना काम आरम्भ करो (हाथ फैलाता है ।)

शै०—(महाराज हरिश्चन्द्र के हाथ में चक्रवर्ती का चिन्ह

देखकर और कुछ स्वर कुछ आकृति से अपने पति को पहचान कर) हा आर्यपुत्र ! इतने दिन तक कहाँ छिपे थे ? देखो अपने गोद के खेलाए दुलारे पुत्र की दशा। तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो अब अनाथ की भाँति मसान में पड़ा है। (रोती है।)

ह०—प्रिये ! धीरज धरो, यह रोने का समय नहीं है। देखो सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों को जान ले और एक लज्जामात्र बच गई है वह भी जाय। चलो कलेजे पर सिल रख कर अब रोहिताश्व को क्रिया करो और आधा कम्बल हमको दो।

शै०—(रोती हुई) नाथ ! मेरे पास तो एक भी कपड़ा नहीं था, अपना आँचल फाड़ कर इसे लपेट लाई हूँ, उसमें से भी जो आधा दे दूँगी तो यह खुला रह जायगा। हाय ! चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता ! (बहुत रोती है)

ह०—(बलपूर्वक आँसुओं को रोक कर और बहुत धीरज धर कर) प्यारी ! रो मत ! ऐसे समय में तो धीरज और धर्म रखना काम है। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिये क्रिया मत करने दो। इससे मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझकर तुमसे इसका आधा कफन न लूँ तो बड़ा अधर्म हो। जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म न छोड़ा उसका धर्म आध गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो। देखो सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कुलगुरु भगवान सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित्त में उदास हों (हाथ फैलाता है।)

शै०—(रोती हुई) नाथ ! जो आज्ञा। (रोहिताश्व का मृत-कम्बल फाड़ा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छूटने का सा बड़ा शब्द और बिजली का सा उजाला होता है, नेपथ्य में बाजे की और बस धन्य और जय जय की ध्वनि होती

है, फूल बरसते हैं, और भगवान् नारायण प्रगट होकर राजा हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़ते हैं।)

भ०—बस महाराज बस ! धर्म और सत्य सब की परमावधि हो गई। देखो तुम्हारे पुण्यभय से पृथ्वी बारम्बार काँपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो। (नेत्रों से आँसू बहते हैं।)

ह०—(साष्टांग दण्डवत् करके, रोता हुआ गद्गद् स्वर से) भगवन् ! मेरे वास्ते आपने परिश्रम किया! कहाँ यह श्मशान-भूमि कहाँ यह मृत्युलोक, कहाँ मेरा मनुष्य शरीर, और कहाँ पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्दघन साक्षात् आप ! (प्रेम के आँसुओं से और गद्गद् कंठ होने से कुछ कहा नहीं जाता।)

भ०—(शैव्या से) पुत्री ! अब सोच मत कर। धन्य तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चन्द्र ऐसा पति मिला है (रोहिताश्व की ओर देखकर) वत्स रोहिताश्व ! उठो, देखो तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं।

(रोहिताश्व उठ खड़ा होता है और आश्चर्य से भगवान् को प्रणाम करके माता-पिता का मुँह देखने लगता है, आकाश से फिर पुष्प-वृष्टि होती है।)

ह० और शै०—(आश्चर्य, आनन्द, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते, आँखों से आँसू बहते हैं और एकटक भगवान् के मुखारविन्द की ओर देखते हैं) (श्री महादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य, इन्द्र और विश्वामित्र आते हैं)

सब०—धन्य महाराज हरिश्चन्द्र ! धन्य ! जो आपने किया सो किसी ने न किया, न करेगा।

(राजा हरिश्चन्द्र, शैव्या और रोहिताश्व सबको प्रणाम करते हैं)

वि०—महाराज ! यह केवल चन्द्र-सूर्य तक आपकी कीर्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था सो क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए।

(हरिश्चन्द्र भगवान और धर्म का मुँह देखते हैं)

धर्म—महाराज ! राज आपका है, इसका मैं साक्षी हूँ, आप निस्सन्देह लीजिये ।

सत्य०—ठीक है, जिसने हमारा अस्तित्व संसार में प्रत्यक्ष कर दिखाया उसी का पृथ्वी का राज्य है ।

श्री महादेव—पुत्र हरिश्चंद्र ! भगवान नारायण के अनुग्रह से ब्रह्मलोक पर्यन्त तुमने पाया, तथापि मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्ति जब तक पृथ्वी है तब तक स्थिर रहे और रोहिताश्व दीर्घायु, प्रतापी और चक्रवर्ती होय ।

पा०—पुत्री शैव्या ! तुम्हारे पति के साथ तुम्हरी कीर्ति स्वर्ग की स्त्रियाँ गावें । तुम्हारी पुत्रवधू सौभाग्यवती हो और लक्ष्मी तुम्हारे घर का कभी त्याग न करें ।

(हरिश्चन्द्र और शैव्या प्रणाम करते हैं)

भै०—और जो तुम्हारी कीर्ति कहे सुने और उसका अनुसरण करे उसको भैरवी यातना न हो ।

इन्द्र—(राजा को आलिंगन करके और हाथ जोड़के) महाराज ! मुझे क्षमा कीजिये । यह सब मेरी दुष्टता थी । परन्तु इस बात से आपका तो कल्याण ही हुआ, स्वयं कौन कहे आपने अपने सत्यबल से ब्रह्मपद पाया । देखिये, आपकी रक्षा के हेतु श्री शिवजी ने भैरवनाथ को आज्ञा दी थी, आप उपाध्याय बने थे, नारदजी बटु बने थे, साक्षात् धर्म ने आपके हेतु चांडाल और कापालिक का भेष लिया, और सत्य ने आप ही के कारण चांडाल के अनुचर और बेताल का रूप धारण किया । न आप बिके न दास हुए, यह सब चरित्र भगवान नारायण की इच्छा से केवल आपके सुयश के हेतु किया गया ।

ह०—(गद्‌गद्‌ स्वर से) अपने दासों का बल बढ़ानेवाला और कौन है ?

भै०—महाराज ! और भी जो इच्छा हो माँगो।

ह०—(प्रणाम करके गद्गद् स्वर से) प्रभु ! आपके दर्शन से सब इच्छा पूर्ण हो गई, तथापि आपकी आज्ञानुसार यह वर माँगता हूँ कि मेरी प्रजा भी मेरे साथ बैकुण्ठ जाय और सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रहे।

भै०—एवमस्तु, तुम ऐसे ही पुण्यात्मा हो कि तुम्हारे कारण अयोध्या के कीट पतंग जीवमात्र सब परम धाम जायँगे, और कलियुग में धर्म के सब चरण टूट जायँगे, तब भी वह तुम्हारी इच्छानुसार सत्य मात्र एक पद से स्थित रहेगा। इतना ही देकर मुझे सन्तोष नहीं हुआ कुछ और भी माँगो। मैं तुम्हें क्या क्या दूँ ? क्योंकि मैं तो अपने ही को तुम्हें दे चुका। तथापि मेरी इच्छा यही है कि तुमको कुछ और वर दूँ। तुम्हें वर देने में मुझे सन्तोष नहीं होता।

ह०—(हाथ जोड़कर) भगवान ! मुझे अब कौन इच्छा है। मैं और क्या वर माँगूँ। तथापि भरत का यह वाक्य सुफल हो—

> "खलगनन सों सज्जन दुखी मत होंई, हरि-पद-रति रहै।
> उपधर्म छूटै, सत्य निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
> बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
> तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहैं॥

(पुष्पवृष्टि और बाजे की ध्वनि के साथ जवनिका गिरती है)